प्रथम परिच्छेद

गोस्वामी जी की दार्शनिक भावना

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ।।

दर्शन—'दर्शन' शब्द 'दृशिर' प्रेक्षणे धातु में ल्युट् प्रत्यय का योग करने पर सिद्ध होता है। 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्' अर्थात् जिसके माध्यम से देखा जाये, उसे दर्शन कहते हैं। यह दर्शन या तो इन्द्रिय-जन्य निरीक्षण हो सकता है, या प्रत्ययी ज्ञान अथवा अन्तर्दृष्टि द्वारा अनुभूत हो सकता है।[1] ज्ञान-दृष्टि या दिव्य-दृष्टि से यथार्थ तत्त्व को देखना ही दर्शन शब्द का अभिधेय है।[2] जिसके द्वारा आत्मदर्शन हो, वह दर्शन है। दर्शन का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द फिलासफी (Philosophy) ग्रीक भाषा के दो शब्दों के मेल से बना हुआ है; फिलास=प्रेम या अनुराग तथा सोफिया= विद्या। अत: फिलासफी का अर्थ हुआ विद्या का प्रेम।[3] किन्तु व्यवहार की दृष्टि से फिलासफी शब्द का प्रयोग दर्शन से भिन्न अर्थ में होता है। मानविकी पारिभाषिक कोश (Encyclopaedia of Humanities) में दर्शन शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि व्युत्पत्ति के अनुसार दर्शन ज्ञान के प्रति अनुराग का नाम है। यहाँ ज्ञान का अर्थ तथ्यों की जानकारी नहीं, वरन् विश्व और मानव-जीवन के गहनतम प्रश्नों के सम्बन्ध में अभिज्ञता है। सुकरात ने दर्शन को आन्तरिक अध्ययन की ओर मोड़ा और कहा कि 'आत्मज्ञान ही दर्शन का मुख्य उद्देश्य है।' दर्शन अस्तित्व और जीवन के मूल तथा विश्वव्यापी प्रश्नों और मूल्यों का व्यवस्थित अध्ययन है। यह अध्ययन कभी विश्लेषणात्मक होता है और कभी संश्लेषणात्मक।[4]

डॉ० चटर्जी का मत है कि युक्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को दर्शन कहते हैं।[5] भारतवर्ष में पारिभाषिक अर्थ में दर्शन तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान या परमात्मज्ञान का वाचक है। यहाँ आत्मा को ही दर्शन, मनन और चिन्तन का विषय बतलाया गया है।[6] मनु का कथन है कि सम्यक् दर्शन से सम्पन्न मनुष्य कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता।[7]

---

१. भारतीय दर्शन—डॉ० राधाकृष्णन्—विषय प्रवेश—पृष्ठ ३७

२ दृश्यते यथार्थतत्त्वमनेनेति दर्शनम्।

३. भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय—उपोद्घात—पृष्ठ ६

४. मानविकी पारिभाषिक कोश—दर्शन खण्ड—सम्पादक डॉ० नगेन्द्र—पृष्ठ १५६

५. भारतीय दर्शन—चटर्जी एवं दत्त—पृष्ठ १

६. आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:।
बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।५

७. सम्यग्दर्शन सम्पन्न: कर्मभिर्न निबद्ध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ।। मनुस्मृति ६।७४

आस्तिक और नास्तिक दर्शन :—भारतवर्ष में दर्शन की दो परम्परायें मानी जाती हैं :- (१) आस्तिक दर्शन की परम्परा (२) नास्तिक दर्शन की परम्परा। आस्तिक शब्द का प्रयोग निम्नाङ्कित तीन अर्थों में किया जाता है :—

(१) लोक मान्यता के अनुसार ईश्वर पर विश्वास करने वाले व्यक्ति को आस्तिक कहते हैं।[1]

(२) स्मृतिकार मनु के मत से वेद को प्रमाण न मानने वाला और वेदों की निन्दा करने वाला नास्तिक कहलाता है।[2] इसका आशय यह है कि मनु के मत से वेद पर आस्था रखना आस्तिकता का लक्षण है।

(३) पाणिनि के मत से परलोक पर आस्था रखने वाले व्यक्ति को आस्तिक कहते हैं।[3]

इस प्रकार आस्तिक्य के तीन आधार सिद्ध होते हैं :—

(१) ईश्वर में विश्वास, (२) वेद पर आस्था, (३) परलोक पर विश्वास।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि सामान्यतः जो व्यक्ति ईश्वर, वेद और परलोक; इन तीनों पर आस्था रखता है उसे आस्तिक कहते हैं। किन्तु भारतीय षड् दर्शनों और जैन-बौद्ध आदि दर्शनों के आस्तिक्य तथा नास्तिक्य का निश्चय करते समय उपर्युक्त तीन आधारों में से वेद विषयक आस्था को ही मुख्य आधार माना गया है। वेद को प्रमाण मानने वाले दर्शन आस्तिक[4] दर्शन और वेद को प्रमाण न मानने वाले दर्शन नास्तिक[5] दर्शन कहलाते हैं। श्रुति की प्रामाणिकता पर विश्वास करने और उस पर विशेष आस्था रखने के कारण ही आस्तिक दर्शन को श्रौत दर्शन भी कहते हैं। आस्तिक दर्शन छह हैं :—

(१) न्याय (२) वैशेषिक (३) सांख्य (४) योग (५) पूर्वमीमांसा (६) उत्तर मीमांसा।

आस्तिक दर्शनों की भांति नास्तिक दर्शन भी छह हैं :—(१) चार्वाक (२) जैन (३) वैभाषिक (४) सौत्रान्तिक (५) योगाचार (६) माध्यमिक।

---

१. अस्ति ईश्वर इति मतिर्यस्य स आस्तिकः।
शब्दकल्पद्रुम— पृष्ठ १९८

२. नास्तिको वेद निन्दकः। मनुस्मृति २।११

३. अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः। अष्टाध्यायी ।४।६०४
अस्ति परलोकः इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः। नास्तीति (नास्ति परलोकः इति) मतिर्यस्य स नास्तिकः। दिष्टमिति मतिर्यस्य स दैष्टिकः। सिद्धान्त कौमुदी

४. वेदप्रमाणकानीह प्रोक्तानि दर्शनानि षट्।
न्यायवैशेषिकादीनि स्मृतास्ते आस्तिकाभिधाः॥

५. अवैदिकप्रमाणानां सिद्धान्तानां प्रदर्शकाः।
चार्वाकाद्याः षड्विधास्ते ख्याताः लोकेषु नास्तिकाः॥
भारतीय दर्शन— डॉ० पारसनाथ द्विवेदी- पृष्ठ ३ पर उद्धृत

प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, गीता और उत्तर मीमांसा (ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन) की समष्टि को प्रस्थानत्रयी कहते हैं।[1] उपनिषदों में मूल रूप से ऋषियों और मुनियों का आध्यात्मिक चिन्तन उपलब्ध होता है। गीता उपनिषदों के सार भाग को लेकर लिखी गयी है। महर्षि व्यास ने उपनिषदों के परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वाक्यों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए ब्रह्मसूत्रों की रचना की है। इस प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में इन तीनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए आचार्य शङ्कर और आचार्य रामानुज आदि ने ईशादि प्रमुख उपनिषदों, गीता और ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखकर अपने-अपने सिद्धान्तों को श्रुति-सम्मत सिद्ध करने का प्रयास किया है।

भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शन पाश्चात्य दर्शन से अनेक बातों में भिन्न है। पाश्चात्य दर्शन में भौतिकता तथा तर्क पर विशेष बल दिया गया है; जब कि भारतीय दर्शन में आध्यात्मिकता का विशेष महत्त्व है। भारतवर्ष में सम्पूर्ण विद्याओं को २ वर्गों में विभक्त किया गया है, १—परा विद्या २—अपरा विद्या। आत्मा सम्बन्धी ज्ञान—आध्यात्मिक ज्ञान-परा विद्या का विषय है; जबकि शेष सम्पूर्ण ज्ञान विषय अपरा विद्या के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। इन अनेक रूपात्मक, क्षण-क्षण में विलक्षण रूप धारण करने वाले पदार्थों के अन्तस्तल में विद्यमान रहने वाली एकरूपता और अनेकता के भीतर एकता को खोज निकालना प्राचीन वैदिक ऋषियों की दर्शन शास्त्र को महत्त्वपूर्ण देन है। जिस प्रकार परिवर्तनशील ब्रह्मांड के भीतर एक अपरिवर्तनशील तत्त्व की सत्ता विद्यमान है; उसी प्रकार इस पिंड के भीतर भी एक अपरिवर्तनशील तत्त्व की सत्ता विद्यमान है। ब्रह्मांड की नियामक सत्ता का नाम है ब्रह्म; तथा पिंडांड की नियामक सत्ता की संज्ञा है आत्मा। प्राचीन दार्शनिकों ने ब्रह्मांड, पिंडांड का ऐक्य सर्वतोभावेन स्वीकार किया है और ब्रह्म तथा आत्मा की एकता प्रतिपादित की है।[2]

भारतीय दर्शन की विशेषतायें

१. आध्यात्मिकता—भारतीय दर्शन आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है।[3] त्रिविध ताप से संतप्त जीव की शान्ति के लिए और आत्यन्तिक दुःख—निवृत्ति के लिए

---

१. श्रुतिस्मृति न्याय प्रदर्शकम् उपनिषद् गीता शारीरक सूत्र रूपत्रय भाष्यरूपं प्रस्थान-त्रयम्। वाचस्पत्यम्—पृ० ४५०१

२ भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय—पृष्ठ १६

३. Spiritual experience is The foundation of India's rich cultural History.
Indian Philosophy—Vol. I, Page 41

ही भारतवर्ष में दर्शन का आविर्भाव हुआ है। 'आत्मानं विद्धि' अर्थात् आत्मा को जानो, यही भारतीय दर्शन का मूल वाक्य है। आत्मा को मनन-चिन्तन का मूल विषय मानने के कारण भारतीय दर्शन में आध्यात्मिकता की सर्वोपरिता स्थापित हो गयी है।

२. **धर्म की प्रधानता**—भारतवर्ष में सदाचार-पालन को आध्यात्मिक ज्ञान का प्रथम सोपान माना गया है। दर्शन और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्शन विचारों का प्रतिपादन है और इन्हीं प्रतिपादित विचारों के अनुसार आचार की व्यवस्था करना धर्म का काम है। दर्शन सिद्धान्त का प्रतिपादक है; तो धर्म व्यवहार का प्रदर्शक है। धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए बिना दर्शन की स्थिति निष्फल है और दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए बिना धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। धर्म के सहयोग से भारतीय दर्शन की दृष्टि व्यापक और व्यावहारिक है तथा दर्शन की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित होने के कारण भारतीय धर्म आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है। दुःख की निवृत्ति के कारणों की खोज से धर्म उत्पन्न होता है और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमात्र उपाय दर्शन है।[1]

३. **मोक्ष परम पुरुषार्थ**—दुःखत्रय के अभिघात[2] की जिज्ञासा ही भारतीय दर्शन की उद्‌गम-भूमि है। मानव जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन पुरुषार्थों में मोक्ष सर्वश्रेष्ठ है। भारतीय दर्शन का आरम्भ ही संसार बन्ध-मुमुक्षा या आत्यन्तिक दुःख-जिघांसा से होता है।[3] सामान्य रूप से स्वरूप में अवस्थिति को ही मोक्ष कहा गया है।[4] इस विश्व में प्राप्त होने वाले सम्पूर्ण सुख आपातरमणीय होते हैं। भोग के बाद इनकी निस्सारता स्वयं सिद्ध हो जाती है। जन्म और मरण की आवृत्तियाँ जीव को व्यथित कर देती हैं। इस व्यथा से छूटने का स्थायी उपाय आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाना है। यही मोक्ष है। इसीलिए भारतीय दर्शन में मोक्ष को जीवन का परम लक्ष्य अथवा परम पुरुषार्थ कहा गया है।

४. **चतुर्व्यूहात्मक दर्शन**—भारतीय दर्शन चिकित्सा-शास्त्र की तरह चतुर्व्यूहात्मक है।[5] जिस प्रकार आयुर्वेद में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भैषज्य पर

---

१. धर्म और दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय-पृष्ठ ३०६

२. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।
दृष्टे सा पार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्।। सांख्यकारिका ?

३. अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः। सांख्य दर्शन १।१

४. आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिः मोक्षः।

५. तुलसी-दर्शन-मीमांसा—डॉ० उदयभानुसिंह—पृष्ठ २०

विचार किया जाता है; उसी प्रकार दर्शन में संसार, संसार-हेतु, मोक्ष और मोक्ष के उपाय पर विचार किया गया है।[1]

५. दुःख तथा दुःख का कारण—यह नाम रूपात्मक जगत् दुःखात्मक है। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' अर्थात् जन्म और मृत्यु का चक्र ही सबसे बड़ा दुःख और इसका कारण अविद्या है। सम्पूर्ण दार्शनिक सम्प्रदाय इस विषय में एकमत हैं कि यह जगत् दुःखमय है। योगदर्शन के अनुसार समस्त पदार्थ सुख-दुःख-मोहात्मक हैं, क्योंकि ये त्रिगुणात्मक हैं। त्रिगुणात्मक पदार्थों से निर्मित संसार 'बंध' कहलाता है, जिसका कारण अज्ञान है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न समझना ही अज्ञान है।[2]

(६) समन्वयवादिता— भारतीय दर्शन में बाह्य दृष्टि से विरोधी प्रतीत होने वाले विविध विचारों और सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित किया गया है। उपनिषदों में अद्वैतवाद, द्वैतवाद और त्रैतवाद के परस्पर भिन्न वैचारिक सूत्रों में तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि षड् आस्तिक दर्शनों में सैद्धान्तिक मतभेद के दर्शन होते हैं; कहीं २५ तत्त्वों के ज्ञान को मुक्ति का हेतु माना गया है, तो कहीं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के माध्यम से परमात्मा के दर्शन करने का उपदेश दिया गया है; इसी प्रकार—पूर्व-मीमांसा-दर्शन में यज्ञों को विष्णु की प्राप्ति का साधन मानकर उनके महत्त्व का उल्लेख किया गया है; तथापि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि विभिन्न दर्शनों के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों के माध्यम से परमात्मा को प्राप्त कराने वाले विभिन्न मार्गों का ही प्रतिपादन किया गया है। उत्तर-मीमांसा-दर्शन में ज्ञान, कर्म और भक्ति के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार गीता और श्रीमद्भागवत में भी कर्म, ज्ञान और भक्ति में समन्वय स्थापित किया गया है। बौद्ध और जैन दर्शन, वैदिक दर्शन के यज्ञ प्रधान कर्मकाण्ड के विरोध में उत्पन्न हुए थे, किन्तु भारतीय दर्शन में बौद्ध तथा जैन दर्शन को भी अन्तर्भुक्त कर लिया गया है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में समन्वयवादिता के दर्शन होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि शरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं और इन्द्रियों की अपेक्षा मन। मन से श्रेष्ठ बुद्धि है, तथा जो बुद्धि से भी उत्तम है,

---

१. तदिदं मोक्षशास्त्रं चिकित्साशास्त्रवच्चतुर्व्यूहात्मकम्।
सांख्य सूत्र १।१ पर सांख्य प्रवचन भाष्य की अवतरणिका
यथा चिकित्सा शास्त्रं चतुर्व्यूहम्, रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद्यथा संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति।
योग सूत्र २।१५ पर व्यास भाष्य

२. भारतीय दर्शन—डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, पृष्ठ ४

वह आत्मा है।[1] आत्मा से भी श्रेष्ठ परमात्मा है। इस आत्म तत्त्व और परमात्म तत्त्व का विवेचन ही भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक सम्पत्ति है। अतः प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत, ब्रह्म, जीव, जगत्, माया और मोक्ष के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा।

ब्रह्म

भागवत में कहा गया है कि ज्ञानमय और अद्वय परमशक्ति को ज्ञानी ब्रह्म, योगी परमात्मा और भक्त भगवान् कहते हैं।[2] ब्रह्म शब्द 'बृह वर्धने' धातु में मनिन् प्रत्यय का प्रयोग करने पर सिद्ध होता है। ब्रह्म का अर्थ होता है, वर्द्धनशील। ब्रह्म सबसे महान् है और वह सम्पूर्ण जगत् में अनुस्यूत है।

ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द का (विभिन्न रूपों और विभक्तियों में) ३५४ बार प्रयोग हुआ है।[3] सायण के मत में नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त ब्रह्मन् शब्द सूक्त अथवा स्तोत्र[4] तथा महान्[5] के अर्थ में और पुंलिङ्ग में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द मुख्यतः स्तोता ब्राह्मण[6] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद १०।१२५।५ और १०।१४१।३ में ब्रह्म (पुंल्लिङ्ग) शब्द क्रमशः स्रष्टा[7] तथा प्रजापति[8] के अर्थ में आया है। किन्तु दर्शन

---

१. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः॥ गीता ३।४२

२. वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ भागवत १।२।११

३. ऋग्वेद संहिता—पञ्चम भाग—सूची खण्ड—पृष्ठ ४०७-४०८

४. स नायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षद्ब्रह्म हरियोजनाय। ऋ० १।६२।१३
सायण भाष्यः—गोतमः गोतमस्य ऋषेः पुत्रः नोधाः ऋषिः नव्यं नूतनं ब्रह्म तत्संयुक्तरूपं स्तोत्रं अतक्षत् अकरोत्।

५. सुमारुतं न ब्रह्माणमर्हसे गणमस्तोष्येषां न शोभसे। ऋ० १०।७७।१
सायण भाष्यः—सुमारुतं शोभनानां मरुतां ब्रह्माणं महान्तम्।

६. अवस्यवे यो वरि वः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः। ऋ० ४।५०।९
सायण भाष्यः—ब्रह्मणे ब्राह्मणाय वा……।
तव प्रणान्यं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे।
सायण भाष्य—ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंस्यपि……।

७. यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्। ऋ० १०।१२५।५
सायण भाष्यः—ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि।

८. आदित्यान्विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्। ऋ० १०।१४१।३
सायण भाष्यः—ब्रह्माणं प्रजापतिम्……।

में नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त ब्रह्मन् (ब्रह्म) का ही विचार किया गया है।[1] अथर्ववेद (१०/८/१) में ब्रह्मन् शब्द परमेश्वर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2]

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में परमेश्वर को अनन्त शिर, अनन्त नेत्र तथा अनन्त-पाद कहा गया है। मंत्रद्रष्टा ऋषि परमेश्वर की अनन्तता का उल्लेख करते हुए कहता है कि वे सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर उससे भी दस अंगुल बड़े हैं।[3] वे इस विश्व में भूत, वर्तमान और भविष्य—इन तीनों कालों, मोक्ष और सम्पूर्ण प्राणियों के स्वामी हैं।[4] परमेश्वर की महिमा इससे भी अधिक है। सम्पूर्ण प्राणी परमेश्वर के एक अंश में स्थित हैं। उनके तीन पाद अमृत और दिव्य हैं।[5] इस प्रकार भगवान् एक पाद से स्वर्ग और मोक्ष को व्याप्त कर तीन पाद से देदीप्यमान होकर प्रतिष्ठित हैं।[6] आदि पुरुष से हिरण्यगर्भ विराट् उत्पन्न हुआ। विराट् से देहाभिमानी पुरुष उत्पन्न हुआ।[7]

---

१. ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व पृष्ठ ११३

२. यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। अथर्व० १०।८।७

३. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥ ऋ० १०।९०।१
सायण भाष्यः—स पुरुषो भूमिं सर्वतो परिवेष्ट्य दशांगुलं दशांगुलपरिमितं देश मत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः। दशांगुलमित्युपलक्षण ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः।

४. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ ऋ० १०।९०।२

५. एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ऋ० १०।९०।३

६. त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥ ऋ० १०।९०।४

७. ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ ऋ० १०।९०।५
महीधर भाष्यः—तस्मादादिम् पुरुषात् विराट् ब्रह्मांडदेहोऽजायतजातः। विविधं राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्। विराजः अधिविराड् देहस्योपरितमेव देहमधि करणं कृत्वा पुरुषः तद्देहाभिमानी एक एव पुमानजायत। सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वमायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवो अभवदित्यर्थः।

ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त (१०।१२१) के ऋषि प्रजापति के पुत्र हिरण्यगर्भ हैं और देवता 'क' नामक प्रजापति हैं।[1] इस सूक्त में १० मन्त्र हैं। प्रारम्भ के नव मन्त्रों में से प्रत्येक मन्त्र के अन्त में आया है—कस्मै देवाय हविषा विधेम। अर्थात् हम किस देवता के लिए हवन करें? परमात्मा के अनन्त ऐश्वर्य का उल्लेख करते हुए ऋषि कहता है कि उनके अतिरिक्त ऐसा कौन देव है, जिसमें असीम शक्ति सन्निहित हो। दसवें मन्त्र में कहा गया है कि हे प्रजापति! आपके अतिरिक्त और कोई देव ऐसा नहीं है, जिसमें उपर्युक्त सभी गुण हों। इसलिए हम आपको ही उद्दिष्ट करके हवन करते हैं। आप हमारी कामनाओं को पूर्ण करें। ऋषि कहता है कि विश्व में सबसे पहले हिरण्यगर्भ परमात्मा स्थित थे। उत्पन्न होने पर वे सारे प्राणियों के अद्वितीय अधीश्वर थे। उन्होंने इस पृथ्वी और आकाश को अपने-अपने स्थानों में स्थापित किया। ऐसे 'क' नामधेय प्रजापति के लिये हम हवन करते हैं।[2] उन्होंने जीवों को बल प्रदान किया है। उनकी आज्ञा सारे देव मानते हैं। उनकी छाया अमृतरूपिणी है और मृत्यु उनके वश में है।[3] वे अपनी महिमा से दर्शनेन्द्रिय और गति शक्ति वाले जीवों के अद्वितीय राजा हुए हैं और द्विपदों तथा चतुष्पदों के प्रभु हैं।[4] उनकी महिमा से ये सभी उत्पन्न हुए हैं। यह ससागरा पृथ्वी उनकी सृष्टि कही जाती है। सम्पूर्ण दिशायें परमेश्वर की भुजाएँ हैं।[5] उन्होंने इस उन्नत आकाश और पृथ्वी को अपने-अपने स्थानों पर स्थापित किया है, उन्होंने

---

१. प्राजापत्यमथाग्नेयं वैन्यमित्यनुपूर्वशः।
वरुणेन्द्राग्नि सोमानां इम न इति संस्तवः॥ बृहद्देवता ८।४१

२. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋग्वेद १०।१२१।१
कस्मै देवाय! अत्र किं शब्दोऽनिर्ज्ञात स्वरूपत्वात्प्रजापतौ वर्तते। सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः यद्वा कं सुखं। तद्रूपत्वात्क इत्युच्यते। कं प्रजापति देवाय देवं दानादि गुणयुक्तं हविषा प्राजापत्यस्य पशोर्वपारूपेणैक कपालात्मकेन पुरोडाशेन वा विधेम।
ऋग्वेद १०।१२१।१ का सायण भाष्य

३. य आत्मादा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋग्वेद १०।१२१।२

४. यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋग्वेद १०।१२१।३

५. यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋग्वेद १०।१२१।४

स्वर्ग और आदित्य को रोक रखा है। वे अन्तरिक्ष में जल के निर्माता हैं।[1] उनके द्वारा द्यो और पृथिवी जदृश्यमान होकर स्तम्भित और उल्लसित हुए थे। दीप्तिशील द्यो और पृथिवी ने उन्हें महिमान्वित समझा था।[2] प्रचुर जल सारे भुवन को आच्छन्न किये हुए था। जल ने अग्नि और आकाश आदि सबको उत्पन्न किया। इससे देवों के प्राणवायु उत्पन्न हुए।[3] बल धारण करके जिस समय जल ने अग्नि को उत्पन्न किया, उस समय भगवान् ने अपनी महिमा से जल का चारों ओर से निरीक्षण किया तथा वे देवों में अद्वितीय देवता हुए।[4] वे पृथ्वी के जन्मदाता हैं, उनकी धारण क्षमता सत्य है। उन्होंने आकाश का जन्म दिया और प्रचुर परिमाण में जल उत्पन्न किया।[5] हे प्रजापति ! तुम्हारे अतिरिक्त और कोई देव इन समस्त वस्तुओं को अधीन करके नहीं रख सकता। जिस अभिलाषा से हम तुम्हारा हवन करते हैं, वह हमें मिले। हम धनाधिपति हों।[6]

वेद में ईश्वर के अनन्त सामर्थ्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि विष्णु ने इस जगत् की परिक्रमा की। उन्होने तीन प्रकार से अपने पैर रखे और उनके धूलि युक्त पैर से जगत् छिप सा गया।[7] विष्णु जगत् के रक्षक हैं, उनका अतिक्रमण करने वाला कोई नहीं है। उन्होंने समस्त धर्मों को धारण कर तीन पदों से परिक्रमा की।[8]

१. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तम्भितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋग्वेद १०।१२१।५

२. यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसारेजमाने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋग्वेद १०।१२१।६

३. आपोह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋग्वेद १०।१२१।७

४. यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋग्वेद १०।१२१।८

५. मानो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वादिवं सत्यधर्मा जजान ।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० १०।१२१।९

६. प्रजापते न त्व देतान्यन्योविश्वा जातानिपरिता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्यामपतयो रयीणाम् ॥ ऋग्वेद १०।१२१।१०

७. इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूलहमस्य पांसुरे ॥ ऋग्वेद १।२२।१७

८. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्माणि धारयन् ॥ ऋग्वेद १।२२।१८

विद्वान् विष्णु के उस परमपद पर सदैव दृष्टि रखते हैं।[१] स्तुतिवादी और मेधावी मनुष्य विष्णु के उस परम पद में अपने हृदय को प्रकाशित करते हैं।[२] विष्णु जगत् के निर्माणकर्ता और सारे संसार में व्याप्त हैं।[३] विष्णु ने अकेले ही एकत्र अवस्थित और अतिविस्तीर्ण नियत लोकत्रय को तीन बार के पदक्रमण द्वारा नापा था।[४] हम सबके स्वामी, पालक, शत्रुरहित और तरुण विष्णु के पौरुष की स्तुति करते हैं। विष्णु ने प्रशंसनीय लोक की रक्षा के लिए तीन बार पदनिक्षेप द्वारा सारे पार्थिव लोकों की विस्तृत रूप से प्रदक्षिणा की है।[५] विष्णु; शब्दस्पर्शादि पंचतन्मात्राओं से अतीत हैं। शरीर के बढ़ने पर कोई उनकी महिमा नहीं जान सकता।[६] जो पृथ्वी में जन्म ले चुके हैं और जो जन्म लेंगे, उनमें से कोई भी उनकी महिमा का अन्त नहीं पा सकता।[७] सभी देव परमात्मा से उत्पन्न होते हैं।[८] ईश्वर; प्रजा के प्रणेता और द्यावा पृथ्वी को धारण करने वाले हैं।[९] परमेश्वर अचल और एक होते हुए भी मन से अधिक तीव्र वेग वाले हैं। उन्हें देव भी नहीं जानते। वे सभी शक्तियों का अतिक्रमण कर जाते हैं।[१०] वे चलते हुए भी नहीं चलते हैं तथा दूर होते हुए भी समीप

---

१. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ऋग्वेद १।२२।२०

२. तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥ ऋग्वेद १।२२।२१

३. अस्येदु मातुः सवनेषु सद्योमहः पितुंपपि वाञ्चार्वन्ना ।
मुषायद् विष्णुः पचत सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥ऋग्वेद १।६१।७

४. प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे ।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममेत्रिभिरित्पदेभिः ॥ ऋग्वेद १।१५४।३

५. तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसीनस्य त्रातुर वृकस्यमीळ्हुषः ।
यः पार्थिवानि त्रिभिरि द्विगामभिरुरु क्रमिष्टोरुगायाय जीवसे ॥ ऋग्वेद १।१५५।४

६. परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति ।
उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णोदेव त्वं परमस्य वित्से ॥ ऋग्वेद १।९९।१

७. न ते विष्णो जायमानो न जातोदेव महिम्नः परमन्तमाप ।
उदस्तभ्ना, नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः ॥ ऋग्वेद ७।९९।२

८. गर्भे नु सन्नन्वेषाम वेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा । ऋग्वेद ४।२७।१

९. नैतावदेना परो अन्यदस्त्युक्षा स द्यावा पृथिवी बिभर्ति ।
त्वचं पवित्रं कृणुत स्वधावान्यदीं सूर्यं न हरितोवहन्ति ॥ ऋग्वेद १०।३१।८

१०. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ यजुर्वेद ४०।४

में स्थित हैं। वे इस संसार के भीतर बाहर सर्वत्र व्याप्त हैं।[१] उनकी कोई प्रतिमा नहीं है; अर्थात् उनका कोई भी उपमान नहीं है। उनका नाम ही अत्यन्त महान् है। सबसे बड़ा उनका यश ही है।[२] वे सम्पूर्ण दिशाओं को व्याप्त कर स्थित हैं। वे सबसे पहले प्रकट हुए हैं।[३] सोलह कला युक्त प्रजापति तीनों ज्योतियों का सेवन करते हैं।[४] ज्ञानी गुप्त स्थान में उस सत्वरूप ब्रह्म को देखता है, जिस ब्रह्म में सभी प्राणी प्रलयकाल में लीन हो जाते हैं और सृष्टिकाल में उसी से प्रकट होते हैं।[५] ज्ञानी व्यक्ति परमात्मा के अविनाशी और गुप्त स्थान में निहित स्वरूप का वर्णन करता है। इनके तीन पाद गुप्त स्थान में स्थित हैं। जो उन्हें जानता है, वह परमात्मा के समान होता है।[६] परमात्मा हमारे बन्धु हैं, हमारे जनक हैं; विधाता हैं और सभी प्राणियों तथा लोकों को जानते हैं। स्वर्ग में, जहाँ अग्नि आदि देवता अमरता-सुख का स्वेच्छापूर्वक उपभोग करते रहते हैं; परमात्मा उसको भी जानते हैं।[७] जो सर्वद्रष्टा होता, हम सब प्राणियों के पालक और संहारक हैं; वे परमेश्वर प्रथम एक रूप को धारण कर फिर अनेक रूप धारण करने की इच्छा से माया के विकार वाले देहों में प्रविष्ट हो गये।[८] ईश्वर सभी प्राणियों को धारण करते हैं। ये सभी लोक प्रलयकाल में उन्हीं में लीन हो जाते हैं।[९] परमात्मा में सभी लोक आश्रित हैं। वे महत्तत्व आदि

---

१. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ यजु० ४०।५

२. न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥ यजु० ३२।३

३. एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतो मुखः॥ यजु० ३२।

४. यस्माज्जात न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणा स्त्रीणि ज्योतींषि स च ते स षोडशी॥ यजु० ३२।

५. वेनस्तत्पश्यन्निहित गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्।
तस्मिन्नदं स च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ यजु० ३२।८

६. प्र तद्वे वेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहासत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेदस पितुः पितासत्॥ यजु० ३२।९

७. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृत मानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ यजु० ३२।१०

८. य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥ यजु० १७।१७

९. यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं सं प्रश्नं भुवनायन्त्यन्या॥ यजु० १७।२७

के भी नियामक हैं।[१] परमात्मा पंचभूतों में रमे हुए हैं। वे सभी प्राणियों की अन्तरात्मा में व्याप्त हैं।[२] तेजोमय आवरण से सत्यरूप ब्रह्म का मुख आच्छादित है। ब्रह्म आकाश के समान व्यापक है।[3] विष्णु ने पृथ्वी, स्वर्ग और अन्तरिक्ष की रचना की है।[४] वे क्षण मात्र में स्तोता के पास पहुँच जाते हैं।[५]

अथर्ववेद के स्कम्भसूक्त (१०।४।७) में ब्रह्म को स्कम्भ बतलाते हुए कहा गया है कि पृथ्वी उनकी प्रमा (आधार), अन्तरिक्ष उदर और द्युलोक उनका शिर है।[६] चन्द्रमा और सूर्य उनके नेत्र तथा अग्नि उनका मुख हैं।[७] वायु उनके प्राणापान, अंगिरा नेत्र और दिशाएँ प्रज्ञानी हैं।[८] उन्होंने आकाश, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, प्रदिशा और छह उर्वियों को धारण किया है।[९] वे सब लोकों के भोक्ता हैं और तपस्या द्वारा प्रकट होते हैं। उन्होंने सोम का निर्माण किया है।[१०] अथर्ववेद के ज्येष्ठ ब्रह्म सूक्त (१०।८) में कहा गया है कि वे भूत, भविष्य और सब पदार्थों

१. यो भूतानामधिपतिर्यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे महतो महांस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम्॥ यजु० २०।३२
२. पंचस्वन्तः पुरुष आ विवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवत्युत्तरो मत्॥ यजु० २३।५२
३. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
यो ऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ॐ खं ब्रह्म। यजु० ४०।१७
४. विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ अथर्ववेद ७।३।२६।१
५. प्र तद् विष्णु स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
परावत् आ जगम्यात् परस्याः॥ अथर्ववेद ७।३।२६।२
६. यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्ष मुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। अथर्ववेद १०।४।७।३२
७. यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। अथर्ववेद १०।४।७।३३
८. यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवत्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। अथर्ववेद १०।४।७।३४
९. स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्।
स्कम्भोदाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भइदं विश्वं भुवन मा विवेश॥
अथर्ववेद १०।४।७।३५
१०. यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्सर्वान्त्समानशे।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ अथर्ववेद १०।४।७।३६

में व्यापक हैं तथा वे दिव्य लोक के भी अधिष्ठाता हैं।[1] वे प्राणक्रिया करते हैं और नहीं भी करते, सब रूपों में होते हुए भी वे एक रूप को प्राप्त होते हैं।[2] वे अनन्त और सान्त दोनों रूपों में प्रतीत होते हैं।[3] वे गर्भ में अदृश्य रहते हुए विचरण करते हैं और अनेक रूपों में उत्पन्न होते हैं। उनके आधे भाग से जगत् उत्पन्न हुआ है और उनका आधा भाग कौन सा है, इसे कौन जानता है।[4] यहाँ जगत् को परमेश्वर के अर्द्धांश से उत्पन्न माना गया है, जबकि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में सम्पूर्ण जगत् को पुरुष के एक पाद में स्थित बतलाया गया है और उनके तीन पाद अमृत बतलाये गये हैं।[5] परमात्मा महान् होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, क्योंकि वे बाल से भी अधिक सूक्ष्म हैं।[6] वे ही जीवों के पिता, पुत्र, ज्येष्ठ और कनिष्ठ हैं। वे ही गर्भ में स्थित हैं और वे ही उत्पन्न होते हैं।[7] ब्रह्मज्ञानी देशकालानवच्छिन्न प्रकाशमान, अविद्यादिक दोषों से हीन परमेश्वर को जानता है। उन्हीं को जानकर साधक मृत्यु का अतिक्रमण कर ब्रह्म में प्रवेश करता है। ब्रह्म को प्राप्त करने अथवा मुक्त होने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है।[8]

अथर्ववेद के उच्छिष्ट सूक्त (११।७) में कहा गया है कि दृश्य प्रपंच का निषेध करने पर जो शेष बचता है, वही उच्छिष्ट नामक ब्रह्म है। इस उच्छिष्ट ब्रह्म में पृथिव्यादि लोक समाये हुए हैं। उसी में स्वर्ग-पति इन्द्र और पृथिवी के स्वामी अग्नि स्थित हैं और उसी उच्छिष्ट के मध्य अखिल

---

१. यो भूतं च भव्यं सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। अथर्ववेद १०।४।८।१

२. यदेजाति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद्भुवत्।
तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव। अथर्ववेद १०।४।८।११

३. अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य। अथर्ववेद १०।४।८।१२

४. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर दृश्यमानो बहुधा विजायते।
अर्धेन विश्वं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः। अथर्ववेद १०।४।८।१३

५. पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। ऋग्वेद १०।६०।३

६. बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया। अथर्व० १०।४।८।२५

७. उतैषां पितोत वा पुत्र एषा मुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥
अथर्ववेद १०।४।८।२८

८. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। यजु० ३१।१८

जगत् स्थापित है।[१] आकाश और पृथ्वी, उसी उच्छिष्ट में समाहित हैं। उनमें वास करने वाले जीव भी उसी उच्छिष्ट में समाविष्ट हैं। जल, समुद्र, चन्द्रमा और वायु ये सभी देवता उसी उच्छिष्ट रूप ब्रह्म में समाहित हैं।[२] दृढ़ देह वाले देवता, स्थिरी भूत लोक और वहाँ के प्राणी, विश्व के कारण रूप ब्रह्म—ये सब उच्छिष्ट ब्रह्म पर वैसे ही आश्रित रहते हैं; जैसे रथ के सभी अंग रथ के चक्र की नाभि पर आश्रित रहते हैं।[३] नव खण्ड वाली पृथिवी, सप्त समुद्र और आकाश इस उच्छिष्ट रूप ब्रह्म में समाहित हैं। सूर्य भी उसी ब्रह्म पर आश्रित होकर चमकते हैं। दिन-रात्रि भी उसी के आश्रित हैं।[४] प्राणन व्यापार वाले जीव, नेत्रेन्द्रिय से देखने वाले प्राणी, स्वर्ग में स्थित देवता और पृथ्वी के देवता, ये सभी उस उच्छिष्यमाण ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं।[५] देवता, पितर, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा और द्युलोक के सभी देवता, इस उच्छिष्ट ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं।[६] ब्रह्मवेत्ता उन्हीं परमेश्वर को जानने का प्रयास करते हैं।[७]

उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि जिससे सम्पूर्ण प्राणी जन्म लेते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से जीते हैं और पुनः उसी में लौटकर पूर्णतः विलीन होते हैं, वही ब्रह्म है।[८] छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म को तज्ज, तल्ल और तदन् कहा गया है। ब्रह्म तज्ज है,

---

१. उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्। अथर्व० ११।७।१

२. उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः। अथर्व० ११।७।२

३. दृढो दृहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्व सृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्र मुच्छिष्टे देवताः श्रिताः। अथर्व० ११।७।७४

४. नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधिश्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहो रात्रे अपि तन्मयि। अथर्व० ११।७।७४

५. यच्च प्राणाति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः। अथर्व० ११।७।२३

६. देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः। अथर्व ११।७।२७

७. तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः। अथर्व० १०।२।३२

८. यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति। तैत्तिरीय उप० ३।१।१

क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों से युक्त जगत् उसी से उत्पन्न होता है; वह तल्ल है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् उसी में लय होता है और वह तदन् है; क्योंकि सभी प्राणी उसी से प्राणन (श्वसन-क्रिया) करते हैं।[1] ब्रह्म जगत् का कर्ता होने के साथ ही उसका अभिन्न निमित्तोपादान कारण भी है।[2] ब्रह्म संसार के बन्ध, स्थिति और मोक्ष का हेतु है।[3]

ब्रह्म के विरोधी गुणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह समीप से भी समीप और दूर से भी दूर है।[4] इसी प्रकार वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् है।[5]

ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द रूपात्मक है।[6] वह निष्कल निरवद्य और निरंजन है।[7] वह अमृत, अरूप,[8] सर्वविद्, सर्वज्ञ[9] और ज्ञान, बल आदि विविध शक्तियों

---

१. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। छान्दोग्य उप० ३।१४।१

२. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सु-कृतमुच्यत इति। तै० उप० २।७।१

३. संसार मोक्ष स्थितिबन्ध हेतुः। श्वेता० उप० ६।१६

४. बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
मुण्डक उप० ३।१।७

५. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥
कठ उप० १।२।२०

६. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तैत्तिरीय उप० २।१।२, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृहदारण्यक उप० ३।६।२८, रसो वै सः। तै० उप० २।७।२, विज्ञानं ब्रह्म। तै० उप० ३।५।१

७. निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्। श्वेताश्वतर उप० ६।१६
दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥ मुण्डक उप० २।१।२

८. अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ कठ उप० २।३।८
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। कठ उपनिषद् २।३।६

९. यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ मुण्डक उप० १।१।६

से सम्पन्न है। उसके समान कोई नहीं है, फिर उससे बड़ा कोई कैसे हो सकता है।[१] वह सबका स्वामी है, उसका स्वामी कोई नहीं है।[२] ब्रह्म मन और वाणी का विषय नहीं है।[३] वह सब कुछ जानता है, किन्तु उसे सम्यक् रीति से कोई नहीं जानता है।[४] ब्रह्म की प्राप्ति न तो प्रवचन से होती है और न बहुत शास्त्राध्ययन से। वही कृपाकर जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान करा देता है, वही व्यक्ति ब्रह्म को जानकर उसे प्राप्त कर लेता है।[५] ब्रह्म सत्यसंकल्प, सत्यकाम, सर्वकर्मा, सर्वरस और सर्वरूप है।[६]

परमेश्वर अन्तर्यामी हैं और वे जगत् के शासक तथा काल और कर्म के संचालक हैं।[७] जीव की अपेक्षा भगवान् की मायाशक्ति बड़ी है। मायाशक्ति से भी बड़े भगवान् हैं। भगवान् से बड़ा कोई नहीं है। वे ही सबकी परमावधि और परमगति हैं।[८]

---

१. न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च ॥

श्वेताश्वतर उप० ६।८

२. स कारणं करणाधिपाधिपो, न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।

श्वेताश्वतर उप० ६।९

३. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति । तैत्तिरीय उप० २।४।१

४. स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता । श्वेता० उप० ३।१९

५. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

कठ उपनिषद् १।२।२३

६. आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदम् ।

छान्दोग्य उप० ३।१४।२

७. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

श्वेताश्वतर उप० ६।११

८. महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

कठ उप० १।३।११

भगवान् जीवात्मा के हृदय रूपी गुफा में निवास करते हैं।[1] परमात्मा सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त हैं। उनके मुख सभी ओर हैं।[2] शक्ति के स्रोत परमेश्वर से ही शक्ति प्राप्त कर सभी जीव शक्तिमान् बनते हैं।[3] उनकी इच्छा के बिना अग्नि और वायु आदि देवता एक तृण को भी जलाने और उड़ाने में समर्थ नहीं हैं।[4] विद्वानों ने परमेश्वर के चार पाद बतलाये हैं।[5] १-वैश्वानर २ तैजस, ३-प्राज्ञ और ४-निर्गुण-निराकार निर्विशेष रूप अद्वैत तत्व।

गीता में कहा गया है कि परमेश्वर अव्यय अविनाशी[6] और अन्तर्यामी[7] हैं। वे निर्गुण और सगुण तथा विरोधी गुणों के आश्रय हैं।[8] सम्पूर्ण जगत् उन्हीं में

---

१. स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः। तै० उप० १।६।१
यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुतेसर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति। तै० उप० २।१।२
स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। बृहदारण्यक उप० ४।४।२२
ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। कठ उप० १।३।१
आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदम्। मुण्डक उप० २।२।१

२. एष ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः।
श्वेताश्वतर उप० २।१६

३. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति। ईशावास्य उप० ४

४. केन उपनिषद्-तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड

५. सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।…वैश्वानरः प्रथमः पादः। …तैजसो द्वितीयः पादः।…प्राज्ञस्तृतीयः पादः।…शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते।
माण्डूक्य उप० २—७

६. अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति। गीता २।१७

७. ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्। गीता १३।१७

८. ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। गीता १३।१२

से सम्पन्न है। उसके समान कोई नहीं है, फिर उससे बड़ा कोई कैसे हो सकता है।[1] वह सबका स्वामी है, उसका स्वामी कोई नहीं है।[2] ब्रह्म मन और वाणी का विषय नहीं है।[3] वह सब कुछ जानता है, किन्तु उसे सम्यक् रीति से कोई नहीं जानता है।[4] ब्रह्म की प्राप्ति न तो प्रवचन से होती है और न बहुत शास्त्राध्ययन से। वही कृपाकर जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान करा देता है, वही व्यक्ति ब्रह्म को जानकर उसे प्राप्त कर लेता है।[5] ब्रह्म सत्यसंकल्प, सत्यकाम, सर्वकर्मा, सर्वरस और सर्वरूप है।[6]

परमेश्वर अन्तर्यामी है और वे जगत् के शासक तथा काल और कर्म के संचालक है।[7] जीव की अपेक्षा भगवान् की मायाशक्ति बड़ी है। मायाशक्ति से भी बड़े भगवान् हैं। भगवान् से बड़ा कोई नहीं है। वे ही सबकी परमावधि और परमगति है।[8]

---

१. न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च॥
श्वेताश्वतर उप० ६।८

२. स कारणं करणाधिपाधिपो, न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।
श्वेताश्वतर उप० ६।९

३. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति। तैत्तिरीय उप० २।४।१

४. स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता। श्वेता० उप० ३।१९

५. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
कठ उपनिषद् १।२।२३

६. आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदम्।
छान्दोग्य उप० ३।१४।२

७. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
श्वेताश्वतर उप० ६।११

८. महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
कठ उप० १।३।११

भगवान् जीवात्मा के हृदय रूपी गुफा में निवास करते हैं।[1] परमात्मा सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त हैं। उनके मुख सभी ओर हैं।[2] शक्ति के स्रोत परमेश्वर से ही शक्ति प्राप्त कर सभी जीव शक्तिमान् बनते है।[3] उनकी इच्छा के बिना अग्नि और वायु आदि देवता एक तृण को भी जलाने और उड़ाने में समर्थ नहीं हैं।[4] विद्वानों ने परमेश्वर के चार पाद बतलाये हैं।[5] १-वैश्वानर २ तैजस, ३-प्राज्ञ और ४-निर्गुण-निराकार निर्विशेष रूप अद्वैत तत्त्व।

गीता में कहा गया है कि परमेश्वर अव्यय अविनाशी[6] और अन्तर्यामी[7] हैं। वे निर्गुण और सगुण तथा विरोधी गुणों के आश्रय हैं।[8] सम्पूर्ण जगत् उन्हीं में

---

१. स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः।
तै० उप० १।६।१
यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति। तै० उप० २।१।२
स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। बृहदारण्यक उप० ४।४।२२
ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। कठ उप० १।३।१
आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदम्। मुण्डक उप० २।२।१

२. एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः।
श्वेताश्वतर उप० २।१६

३. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति। ईशावास्य उप० ४

४. केन उपनिषद्-तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड

५. सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।... वैश्वानरः प्रथमः पादः।
...तैजसो द्वितीयः पादः।...प्राज्ञस्तृतीयः पादः।...शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते।
माण्डूक्य उप० २—७

६. अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति। गीता २।१७

७. ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्। गीता १३।१७

८. ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। गीता १३।१२

अनुस्यूत है।[१] वे पुरुषोत्तम हैं। वे तीनों लोकों में प्रवेश कर सभी प्राणियों का पालन पोषण करते हैं।[२]

भारतीय दर्शन में ब्रह्म के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। वेदान्त दर्शन में कहा गया है कि जिससे संसार का जन्म होता है, पालन होता है और अन्त में जिसमें संसार विलीन हो जाता है, उसे ब्रह्म कहते हैं।[३] परमेश्वर के सगुण और निर्गुण, दोनों रूप सत्य हैं।[४] परमेश्वर प्राकृत हेय गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण और दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण सगुण कहलाते हैं। भक्तों के कल्याणार्थ लीला-हेतु अवतार धारण करने पर उन्हें साकार कहा जाता है।

योग दर्शन में कहा गया है कि जो क्लेश, कर्म, विपाक (फल) और आशय (वासना) से असंग रहते हैं, उन पुरुष विशेष को ईश्वर कहते हैं।[५] प्रकृति-लय और विदेह योगियों में भी पूर्वोक्त क्लेशकर्मादि का राहित्य हो जाता है; किन्तु सिद्धि प्राप्त होने के पूर्व तक विदेह योगी और प्रकृतिलय ज्ञानी पुरुष भी इनसे बाधित रहते हैं। किन्तु ईश्वर क्लेशादिकों से तीनों कालों में अबाधित रहते हैं। अतएव वे मुक्त पुरुषों से भी अतिशय हैं। योग दर्शन का पुरुष विशेष ही ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का प्रतिपाद्य पुरुष है, जिसके एक अंश में विश्व की स्थिति बतलायी गयी है।[६] गीता में योग के इन्हीं पुरुष विशेष को उत्तम पुरुष कहा गया है; जो अविनाशी परमात्मा के नाम से अभिहित होते हैं।[७] गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि विश्वकर्ता पुर में निवास करने

---

१. मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। गीता ७।७

२. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः। गीता १५।१७

३. जन्माद्यस्य यतः। वेदान्त दर्शन १।१।२

४. न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि। वे० द० ३।२।११
न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्। वे० द० ३।२।१२
अपि चैवमेके। वे० द० ३।२।१३
अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्। वे० द० ३।२।१४

५. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः। योगदर्शन १।२४

६. एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। ऋग्वेद १०।९०।३

७. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

के कारण परमेश्वर पुरिशय कहलाते हैं और इसी गुण के कारण परमेश्वर को परोक्ष शैली में पुरुष कहा जाता है।[१] ईश्वर निरतिशयी (सबसे बड़े) सर्वज्ञ हैं।[२] वे ब्रह्मा आदि के भी उपदेष्टा हैं, क्योंकि वे काल की सीमा से परिच्छिन्न नहीं हैं।[३]

न्याय दर्शन में ईश्वर को मनुष्यों के कर्मफल का विधायक बतलाया गया है।[४] सांख्य दर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता है।[५] वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि ईश्वर अप्रत्यक्ष रूप से सभी वस्तुओं के प्रवर्तक हैं।[६]

तुलसी साहित्य में ब्रह्म का स्वरूप

गोस्वामी जी ने लिखा है कि निर्गुण और सगुण ब्रह्म के ये दोनों रूप सत्य, अकथनीय और अनादि हैं। इनकी स्थिति क्रमशः दारुगत और प्रकट अग्नि के समान है। ब्रह्म सबमें व्यापक अविनाशी और सच्चिदानन्द हैं। वे सभी प्राणियों की अन्तरात्मा में निवास करते हैं।[७] इस प्रकार तुलसी के राम परात्पर ब्रह्म हैं।

भगवान् राम के वनवासी रूप को देखकर और उनकी मानवीय लीलाओं को देखकर भगवती पार्वती को भ्रम होता है कि विरही होकर तथा व्याकुल होकर अपनी पत्नी को खोजने वाले राम क्या ब्रह्म हो सकते हैं? वे विष्णु भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि विष्णु भी त्रिकालज्ञ होने के कारण यह जान सकते हैं कि

---

१. प्राण एष स पुरि शेते तं पुरि शेत इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते।
गोपथ ब्राह्मण। पूर्व भाग १।३९
२. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्। योगदर्शन १।२५
३. पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। यो० द० १।२६
४. ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्। न्याय दर्शन ४।१।१९
५. स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता। सांख्य दर्शन ३।५६
ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा। सांख्य दर्शन ३।५७
६. संज्ञा कर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम्। वैशेषिक दर्शन २।१।१८
प्रत्यक्ष प्रवृत्तत्वात्संज्ञा कर्मणः। वैशेषिक दर्शन २।१।१९
७. अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥

× × ×

एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ॥

× × ×

व्यापकु एकु ब्रह्म अविनाशी। सत चेतन घन आनंद रासी ॥
अस प्रभु हृदयँ अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ॥

मानस।बाल०।२३।१—४

उनकी पत्नी कहा है । उन्हें भी इस प्रकार से लता और तरुओं से पूछने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु मेरे पति ने इन्हें सच्चिदानन्द कहा है ।[१] भगवान् शंकर के वचन मिथ्या भी नहीं हो सकते ।[२] जब शंकर ने पार्वती के इस अन्तर्द्वन्द्व को जाना, तब उन्होंने पार्वती के भ्रम का अपनयन करने के उद्देश्य से उनसे कहा—हे पार्वति ! जिनकी कथा का अगस्त्य ऋषि ने गान किया है; ज्ञानी मुनि, योगी और सिद्ध निरन्तर निर्मल चित्त से जिनका ध्यान करते हैं, तथा वेद, पुराण और शास्त्र जिनकी कीर्ति गाते हैं; उन्हीं सर्व व्यापक, समस्त ब्रह्मांडों के स्वामी, मायापति, नित्यपरम स्वतन्त्र, ब्रह्मरूप भगवान् श्री राम ने अपने भक्तों के हित के लिए अवतार धारण किया है ।[३] भगवान् राम सत्, चित् और आनन्द रूप हैं । वे विज्ञान ज्योति से सदैव ज्योतिर्मान बने रहते हैं ।[४] वे माया, जगत् तथा जीव के स्वामी हैं ।[५] विषय, इन्द्रियां, इन्द्रियों के देवता और जीवात्मा—ये सब क्रमशः परवर्ती की सहायता से चेतन होते हैं, अर्थात् विषयों का प्रकाश इन्द्रियों से, इन्द्रियों

---

१. जय सच्चिदानन्द जग पावन । अस कहि चलेउ मनोज नसावन ।।

× × ×

२. ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद ।।
बिष्नु जो सुर हित नरतनु धारी । सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी ।।
खोजइ सो कि अग्य इव नारी । ग्यान धाम श्रीपति असुरारी ।।
संभु गिरा पुनि मृषा न होई । सिव सर्बग्य जान सबु कोई ।।
अस संसय मन भयउ अपारा । होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ।।

मानस।बाल०।५०।२—५१।२

३. जासु कथा कुम्भज रिषि गाई । भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई ।
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा । सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ।।
मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं ।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ।।
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तन्त्र नित रघुकुल मनी ।।

मानस बाल० ५१।४ एवं छन्द

४. राम सच्चिदानन्द दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ।
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ।।

मानस।बाल०।११६।३

५. पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ । मानस।बाल०।११६

का इन्द्रियों के देवताओं से और इन्द्रिय-देवताओं का चेतन जीवात्मा से प्रकाश होता है। भगवान् इन सभी के प्रकाशक हैं।[१]

ब्रह्म एक, इच्छारहित तथा नाम और रूप हीन हैं। वे अजन्मा, परमधाम और विश्वरूप हैं। वे ही भक्तों का हित साधन करने के लिए दिव्य शरीर धारण करते हैं और नाना प्रकार की लीलाएँ करते हैं।[२] निर्गुण और सगुण ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। निर्गुण ब्रह्म ही भक्तों के प्रेमवश सगुण रूप धारण कर अवतार लेते हैं।[३] वे माया, तीनों गुणों और इन्द्रियों से परे हैं। उनका दिव्य शरीर अपनी इच्छा से ही बना है। वे कर्मबन्धन अथवा त्रिगुणात्मक भौतिक पदार्थों से प्रेरित होकर मानव शरीर नहीं धारण करते।[४] भगवान् श्री राम का अवतार पृथ्वी, ब्राह्मण, गौ और देवताओं का हित-साधन करने के लिए होता है।[५] भगवान् राम ने भक्तों के लिए मनुष्य रूप धारण किया है और वे सामान्य मनुष्य की भाँति आचरण करते हैं। जैसे नट राजा, मंत्री आदि अनेक पात्रों का स्वरूप बनाकर अनेक लीलाएँ करता है; किन्तु वह राजा या मंत्री नहीं हो जाता; वरन् नट ही बना रहता है; वैसे ही भगवान् राम मनुष्य शरीर धारण कर अनेक मानवीय लीलायें करते हैं; किन्तु वे अपने ईश्वरीय रूप से पृथक् नहीं होते।[६] गोस्वामी जी ने प्रभु के परस्पर विरोधी

---

१. विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता।।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू।। मानस।बाल० ११७।४

२. एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।
ब्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना।।
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी।।
रामचरित मानस १।१३।२-३

३. सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।
रामचरित मानस १।११६।७

४. बिप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार।। रामचरित मानस १।१९२

५. गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपा सिंधु मानुष तनु धारी।।
रामचरित मानस—सुन्दर काण्ड ३९।२

६. भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप।।
जथा अनेक वेष धरि, नृत्य करै नट कोई।
सोइ सोइ भाव दिखावइ, आपुन होइ न सोई।। रामचरित मानस ७।७२

प्रतीत होने वाले गुणों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे पद, श्रवण, कर, आनन, वाणी, नयन तथा घ्राण आदि के बिना ही इन इन्द्रियों से ग्राह्य विषयों को ग्रहण करते हैं। उनके सभी कर्म अलौकिक हैं। वे चर-अचर जगत् के नियन्ता तथा सभी जीवों के हृदय में अन्तर्यामी ब्रह्म के रूप में स्थित हैं। जो मनुष्य उनका स्मरण करते हैं; वे गोपद की भाँति आसानी से ही इस अपार संसार से तर जाते हैं।[1] श्री राम प्रकृति जन्य त्रिगुणों से रहित, मायातीत, दिव्य मंगल विग्रह, सच्चिदानन्द-कंदस्वरूप सूर्यकुल के ध्वजारूप हैं। वे संसार रूपी समुद्र के पार उतरने के लिए सेतु के समान हैं।[2]

श्री राम का स्वरूप मन और वाणी से अगम, बुद्धि से परे, अव्यक्त, अकथनीय और अपार है। वेद निरन्तर नेति नेति कहकर उनका वर्णन करते हैं।[3] यह संसार दृश्य है और श्री राम इसके द्रष्टा हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश के भी नियामक हैं। त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी श्री राम के यथार्थ रूप को नहीं जानते हैं, फिर कोई अन्य प्राणी उन्हें कैसे जान सकता है। भगवान् राम ही कृपाकर जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान करा देते हैं, वही व्यक्ति उन्हें जान सकता है। भगवान् राम को जानकर भक्त उन्हीं को प्राप्त हो जाता है। भगवान् श्री राम का शरीर चिदानंदमय है और सब

---

१. बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु-परसु नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा।
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान्॥

मानस।बाल० ११८।३-४ से ११८ तक

सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अन्तरयामी।
बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥

मानस।बाल० ११९।१-२

२. सुद्ध सच्चिदानन्दमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत, संसृति सागर सेतु॥ मानस।अयोध्या० ८७

३. राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर।
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥ मानस।अयोध्या० १२६

विकारों से रहित है।[1] श्री राम धर्म धुरन्धर और स्वतन्त्र हैं। वे सत्य-प्रतिज्ञ और वेद की मर्यादा के रक्षक हैं। उनका अवतार ही जगत् के कल्याण के लिए हुआ था। नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ के यथार्थ तत्त्व को उनके समान कोई नहीं जानता। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सूर्य, चन्द्र आदि तथा माया, जीव, कर्म और काल सभी के शिर पर श्री राम की आज्ञा अपना अनुशासन रखती है।[2] राम की कृपा होने पर ही सिद्धियाँ अपना प्रभाव दिखलाती हैं। यदि श्री राम विमुख हो जावें, तो कोई सिद्धि प्रभावयुक्त नहीं रह पाती।[3] केन उपनिषद् में कहा गया है कि एक बार देवों की दैत्यों पर विजय होने से देवों को अपने बल पर अभिमान हो गया। वे अपने स्वामी, शक्ति-स्रोत भगवान् को भूल गये। देवों के अभिमान को नष्ट करने की भावना से प्रेरित हो भगवान् यक्ष के वेष में देवताओं के समक्ष प्रकट हुए। देवताओं ने यक्ष का परिचय प्राप्त करने के लिए उनके समीप क्रमशः वायु और अग्नि को भेजा। ये दोनों देव यक्ष के यथार्थ रूप को न जान सके। यक्ष के द्वारा जब उनका परिचय पूछा गया, तो उन्होंने अपनी अपनी शक्तियों का परिचय देते हुए अभिमानपूर्वक कहा कि हम चाहें, तो सारे संसार को क्रमशः उड़ा और जला सकते हैं। यक्ष ने कहा—सामने पड़े हुए तृण को जला या उड़ा दो। पूरी शक्ति लगा देने पर भी न तो अग्नि देव उस तृण को जला सके और

---

१. जगु देखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननि हारा।
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।
तुम्हरिहि कृपां तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उरचंदन।
चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥
मानस। अयोध्या०। १२७।१-३

२. धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा रामु स्वबस भगवानू॥
सत्यसंध पालक श्रुति सेतू। राम जनम जग मंगल हेतू॥
गुर पितु मातु बचन अनुसारी। खल दलु दलन देवहितकारी॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥
बिधि हरि हरु ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलिकाला॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥
करि बिचार जियँ देखहु नीकें। राम रजाइ सीस सबही कें॥
मानस। अयोध्या काण्ड। २५४।१ से २५४ तक

३. तात बात फुरि कृपाहीं। राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं।
मानस। अयोध्या कांड २५६।१

न वायुदेव उसे उड़ा सके।[1] इस कथा से यह ज्ञात होता है कि परमेश्वर ही समस्त शक्तियों के स्रोत हैं। यदि वे अपने शक्ति-स्रोत को बंद कर दें, तो सभी शक्तिमान् शक्तिहीन हो जायेंगे और सभी सिद्धों की सिद्धियां निष्फल हो जायेंगी। भगवान् निष्काम पुरुषों को अपना परमधाम प्रदान करते हैं।[2] जो मनुष्य मत्सर हीन होकर उनके चरणकमलों का सेवन करते हैं, वे तर्क-वितर्क रूपी तरंगों से पूर्ण संसार रूपी समुद्र अर्थात् आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ते।[3] भगवान् राम अद्वितीय, मायिक जगत् से विलक्षण, सर्वसमर्थ, इच्छारहित, सबके स्वामी, व्यापक, जगद-गुरु सनातन, तुरीय और अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं।[4] श्रीराम निर्गुण, सगुण, विषम और समरूप हैं। वे वाणी और इन्द्रियों से अतीत हैं। वे अनुपम, निर्मल, दोषरहित और अनन्त हैं।[5] वे गुणों के प्रेरक हैं।[6] वे अपरिमित बल वाले हैं। वे अनादि, अजन्मा, अव्यक्त, अगोचर, गोविन्द अर्थात् वेदवाक्यों द्वारा जानने योग्य, इन्द्रियों से अतीत, द्वन्द्वों को हरने वाले, विज्ञान की घनमूर्ति और पृथ्वी के आधार हैं। वे निष्काम भाव से भक्ति करने वालों पर विशेष प्रसन्न रहते हैं और कामादि दोषों को नष्ट कर देते हैं।[7] श्रुतियां उन्हें माया से परे निर्विकार और जन्महीन कहती हैं।[8] योगी अपने मन

---

१. तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति। केन उपनिषद् ३।६
तस्मै तृणं निदधावेत दाददस्वेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति। केन उपनिषद् ३।१०

२. भजामि ते पदाम्बुजं। अकामिनां स्वधामदं॥ रामचरित मानस।अरण्य ४।१

३. त्वदंघ्रि मूल ये नराः। भजन्ति हीन मत्सराः॥
पतन्ति नो भवार्णवे। वितर्क वीचि संकुले॥ रामचरित मानस।अरण्यकांड ४।७

४. त्वमेकमद्भुतं प्रभुं। निरीहमीश्वरं विभुं॥
जगद्गुरुं च शाश्वतं। तुरीयमेव केवलं॥ रामचरितमानस।अरण्य कांड ४।९

५. निर्गुण सगुण विषम समरूपं। ज्ञान गिरागोतीत मनूपं॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमिराम भंजनमहि भारं॥
रामचरित मानस।अरण्यकांड ११।६

६. जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही। रामचरित मानस।अरण्य ३२।१

७. धनमपरमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरं।
गोविन्द गोपर द्वन्द्वहर बिग्यान घन धरनी धरं। रामचरित मानस।अरण्य० ३२।२

८. जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।
करि ध्यान ग्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं॥
रामचरित मानस।अरण्य० ३२।३

और इन्द्रियों को वश में रखकर बहुत साधनों के बाद उन्हें देख पाते हैं।[1] श्री राम-चन्द्र वेदरूपी समुद्र से निःसृत हुआ है।[2] निर्गुण ब्रह्म जब भक्तों के प्रेम के वश में होकर सगुण अर्थात् व्यक्त हो जाते हैं; तब उनका यह रूप उसी प्रकार अधिक भव्य होता है; जिस प्रकार एक तालाब कमलों से युक्त होने पर अधिक सुन्दर लगता है।[3] श्री राम शान्त, सनातन, प्रमाणों से परे, निष्पाप, मोक्षरूप परमशक्ति देने वाले, ब्रह्मा शम्भु और शेष जी से निरन्तर सेवित, वेदान्त के द्वारा जानने योग्य, सर्वव्यापक देवों में शिरोमणि, माया से मनुष्य रूप धारण करने वाले, समस्त पापों को हरने वाले, करुणा की खान और जगत् के स्वामी हैं।[4] उनके बल से माया सम्पूर्ण ब्रह्मांडों की रचना करती है, और उन्हीं की शक्ति से बल ग्रहण कर ब्रह्मा, विष्णु और महेश जगत् का क्रमशः सृजन, पालन और संहार करते हैं और शेषनाग पर्वतों तथा वनों से युक्त ब्रह्मांड को अपने शिर पर धारण करते हैं। श्री राम देवताओं की रक्षा के लिए नाना शरीर धारण करते हैं।[5] समस्त चराचर को अपना ग्रास बनाने वाला काल भी श्री राम से भयभीत रहता है।[6] वे समस्त लोकों के स्वामी और काल के भी काल हैं।

---

१. जो अगम सुगम सुभाव निर्मल असम सम सीतल सदा।
पस्यंति जं जोगी जतन करि करत मन गो बस सदा॥ रामचरित मानस।
अरण्यकांड ३२।४

२. ब्रह्माम्भोधि समुद्भवं ...। रामचरित मानस।किष्किंधा कांड मंगलाचरण।२

३. फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा॥
रामचरित मानस।किष्किंधा० १७।१

४. शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्मा शम्भु फणीन्द्र सेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपाल चूडामणिम्॥ रामचरित मानस।
सुन्दर काण्ड मङ्गला चरण।१

५. सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचित माया॥
जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥
धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता॥
रामचरित मानस।सुन्दरकाण्ड २१।३।४

६. जाकें डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥
रामचरित मानस।सुन्दर० २२।५

वे सम्पूर्ण ऐश्वर्य, यश, श्री, धर्म, वैराग्य एवं ज्ञान के भण्डार हैं। वे निरामय, अजन्मा, व्यापक, अजेय, अनादि और अनन्त ब्रह्म है।[1]

शिव और ब्रह्मा के भक्तों को जिस ऐश्वर्य की उपलब्धि अनेक कष्टों के पश्चात् होती है; वही विभूति श्री राम अपने भक्तों को अनायास प्रदान कर देते हैं। उनके समान कृपालु देव कोई दूसरा नहीं है।[2] श्री राम शंकर के सेव्य, भवभय भंजक काल रूपी मतवाले हाथी के लिए सिंह के समान, योगियों के स्वामी, ज्ञान के द्वारा जानने योग्य, निर्गुण, निर्विकार और माया से परे हैं।[3] लव, निमेष, परमाणु, वर्ष, युग और कल्प श्री राम के प्रचंड बाण हैं और काल उनका धनुष है।[4]

भगवान् के निर्गुण रूप की उपासना में शेष सभी बातों का प्रत्याख्यान कर दिया जाता है; किन्तु सगुण साकार ब्रह्म की अवतार-लीला ऐसी गूढ़ होती है; जिसे देखकर बड़े-बड़े ज्ञानियों को भी भ्रम हो जाता है।[5] काकभुशुंडि भी भगवान् राम की लीला को देखकर भ्रमित हो गये। काकभुशुंडि ने भगवान् राम के उदर में अनेक ब्रह्माण्ड देखे, जिन्हें उन्होंने उनके पहले न तो कभी देखा था और न उनके विषय में कभी कुछ सुना ही था।[6] भगवान् श्री राम अवतार धारण करने पर भी नित्य, अजन्मा

---

१. ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥

रामचरित मानस।सुन्दर० ३९।२

२. जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।

सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ। रामचरित मानस।सुन्दरकांड।४९

३. राम कामारि सेव्यं भवभय हरणं कालमत्तेभ सिंहं

योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम्॥

मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैक देवं

वन्दे कन्दावदातं सरसिज नयनं देवमुर्वीशरूपम्।

रामचरित मानस।लङ्काकांड। मङ्गला चरण।१

४. लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड।

भजसि न मन तेहि राम को, कालु जासु कोदंड।

रामचरित मानस। लङ्काकांड मङ्गला चरण। १

५. निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।

सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ।

रामचरित मानस। उत्तर कांड। ७३

६. मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं॥

उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥

× × ×

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें।)

व्यापक, एक और अनादि हैं।[1] वे अनिन्द्य और अखंड हैं तथा इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। सदा सर्वरूप होते हुए भी वे कभी यह सब नहीं हुए—ऐसा वेद कहते हैं। जैसे सूर्य और सूर्य के प्रकाश में भिन्नता होते हुए भी भिन्नता नहीं है, उसी प्रकार श्री राम संसार से भिन्न और अभिन्न दोनों ही हैं।[2]

विश्वरूप श्री राम—मंदोदरी रावण से भगवान् श्री राम के विश्वरूप का उल्लेख करती हुई कह रही है कि पाताल उनका चरण, ब्रह्मलोक शिर तथा अन्य लोक उनके भिन्न भिन्न अङ्गों पर स्थित हैं। काल भृकुटि, सूर्य नेत्र, बादलों का समूह बाल, लोभ अधर, यमराज भयानक दांत, माया हँसी, दिक्पाल भुजाएँ, अग्नि मुख, वरुण जीभ, उत्पत्ति पालन और प्रलय उनकी चेष्टाएँ हैं। अठारह प्रकार की असंख्य वनस्पतियाँ उनकी रोमावली हैं और पर्वत अस्थियाँ हैं। नदियाँ नसों का जाल हैं, समुद्र पेट है और नरक नीचे की इन्द्रियाँ, शिव उनका अहंकार, ब्रह्मा बुद्धि और चन्द्रमा मन तथा महान् विष्णु ही उनका चित्त हैं। उन्हीं चराचर रूप भगवान् श्री राम ने मनुष्य रूप में अवतार धारण किया है।[3]

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

जो नहिं देखा नहि सुना, जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवन बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्माण्ड महुँ रहौं बर्ष सत एक।
एहि बिधि देखत फिरौं मैं अंड कटाह अनेक। उत्तरकांड। ८०

× × ×

अनत माहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका॥

× × ×

उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउँ भ्रमित मन मोह बिशेषा।
मानस। उत्तर० ८२।१,४

---

१. अज व्यापक मेक मनादि सदा सदा। करुनाकर राम नमामि मुदा॥
रामचरित मानस। लङ्काकाण्ड १११।४

२. अनवद्य अखंड न गोचर गो। सब रूप सदा सब होइ न गो॥
इति बेद बदन्ति न दंतकथा। रबि आतप भिन्नमभिन्न जथा॥
रामचरित मानस। लङ्काकांड १११।८

३. बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेदकर अंग अंग प्रति जासु॥ लङ्काकांड ६१४

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

कवि ने भगवान श्री राम को संसार-वृक्ष के रूप में सांगरूपक के द्वारा उद्भूत करते हुए कहा है कि इस संसार-वृक्ष का मूल अव्यक्त प्रकृति है और यह अनादि काल से है। इसकी शुद्ध सत्त्व, सत्त्व, रज और तम ये चार त्वचायें, पंच तत्त्व और मन ये छह स्कन्ध तथा प्रत्येक तत्त्व से पाँच-पाँच प्रकृतियाँ—इस प्रकार पच्चीस प्रकृतियाँ इसकी शाखायें हैं। संचित कर्मवासनायें पत्ते और प्रारब्ध-कर्म इसके फूल हैं। सुख और दुःख - ये दो फल हैं। अविद्या माया बेलि है, जो इस संसार-वृक्ष पर आश्रित है, जिसमें वासना रूपी नित्य नये पत्ते और मनोराज्य रूपी फूल निकलते रहते हैं।[1] श्री मद्भागवत में संसार-विटप का उल्लेख करते हुए भुक्ति को फूल और मुक्ति को फल, पाप पुण्य को बीज, अपरिमित वासनाओं को जड़, पंचभूतों को स्कंध, ग्यारह इन्द्रियों को शाखायें, जीवात्मा-परमात्मा को दो पक्षी तथा सुख-दुःख को फल कहा गया है[2]।

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग-अँग बिश्रामा॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन माला॥
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा॥
श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥
आनन अनल अंबु पति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥
रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु का बहु कलपना॥
अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥ रामचरित मानस। लङ्काकांड। १५

---

१. अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षटकंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे।
रामचरितमानस। उत्तरकांड १३।५

२. यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं पटो यथा तन्तु बितान संस्थः।
य एष संसार तरुः पुराणः कर्मात्मक पुष्पफले प्रसूते॥
द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनाल=पंचस्कंध=पंचरस प्रसूतिः।
दशैक शाखो द्विसुपर्ण नीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्य वासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्॥ भागवत ११।१२।२२-२३

श्री मद्भागवत के इस प्रसंग में परमेश्वर को ही अव्यक्त और संसार का कारण बतलाया गया है[1]। विनय पत्रिका में कवि ने भगवान राम के गुणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि श्री राम एक[2], अद्वितीय[3], शुद्ध[4], एकरूप[5], एकरस[6] और शान्त[7] हैं। वे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से परे तुरीयावस्था में स्थित रहते हैं[8]। वे अन्तर्यामी[9], व्यापक[10] और विभु हैं[11]। वे विश्वात्मा[12], विश्वायतन[13] और परमात्मा[14] हैं। वे कूटस्थ[15] और संसार रूपी दृश्य के द्रष्टा[16] हैं। वे सर्वज्ञ[17], भुवननिकायपति[18] हैं। श्री राम सृष्टि के कर्त्ता, भर्ता और संहर्ता हैं[19]। वे जगत् के निमित्त और उपादान दोनों ही कारण हैं[20]। भगवान् श्री राम कर्म, वचन और मन से अगोचर और ज्ञान गोतीत हैं[21]। वे निर्गुण होते हुए भी गुणों के आधार हैं[22]। वे करुणामय[23]

---

१. अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनिरव्यक्त एको वयसा स आद्यः।
विश्लिष्ट शक्तिर्बहुधेव भाति बीजानि योनि प्रतिपद्य यद्वत् ॥ भागवत ११।१२।२०
२. विभुमेकमनवद्यमजम् । विनयपत्रिका ५३।३
३. अद्वितीयम् । विनयपत्रिका ५३।३
४. शुद्ध बोधायतन, सच्चिदानन्दघन, सज्जनानन्द वर्धन खरारी । विनय पत्रिका ५५।१
५,६. सुखद, सुमुख, एकरस, एकरूप, तोहि । विनय पत्रिका २४६।३
७. शांत, निरपेक्ष, निर्मम, निरामय। विनय पत्रिका ५७।८
८. वन्दे तुरीयं । विनय पत्रिका ५३।३
९. मैं अपराध-सिन्धु करुनाकर। जानत अन्तरजामी । विनय० ११७।५
१०. व्योम व्यापक । विनय पत्रिका ५३।८
११. विभुम : विनय पत्रिका ५३।३
१२. विश्वातमा, विरज, वैकुण्ठ-मन्दिर-विहारी । विनय पत्रिका ५६।३
१३. विश्वायतन, विश्वमरजाद, व्यालारिगामी । विनय पत्रिका ५४।१
१४. भूमिभारहर, प्रकट परमातमा । विनय पत्रिका ५२।७
१५. सर्वरक्षक, सर्वभक्षकाध्यक्ष, कूटस्थ । विनय पत्रिका ५३।६
१६. सकल दृश्य-द्रष्टा । विनय पत्रिका ५३।७
१७. सर्वज्ञ, सर्वेश । विनय पत्रिका ५१।८
१८. विस्वभर, श्रीपति, त्रिभुवनपति । विनय पत्रिका ६८।४
१९. विस्वपालन-हरण, विस्वकर्त्ता । विनय पत्रिका ६१।८
२०. विस्व-कारण-करण । विनय पत्रिका ५५।६
२१. मन-क्रम-वचन-अगोचर, व्यापक, व्याप्य, अनंत । वि० २०३।१४
२२. निरमल गुन-गुन रघुबर के । वि० १७०।२
२३. नौमि नारायणं नरं करुणायतनं । वि० ६०।१

हैं। उनकी करुणा हेतु रहित होती है[१]। वे अपने भक्तों पर हेतु रहित कृपा करते हैं[२]। वे शरणागत के पालक और रक्षक हैं[३]। उनकी खीज से भी सालोक्य मुक्ति प्राप्त हो जाती है[४]। वे देवों, मुनियों, संतों, तथा गो-ब्राह्मणों के पालक, रक्षक, निस्तारक और आनन्दमंगलदायक हैं। वे विरोधी गुण वाले हैं। वे अरूप होकर भी विश्वरूप, निराकार होकर भी विश्व-विग्रह और अन्तर्यामी होकर भी बहिर्यामी हैं[५]। वे सर्वव्यापी होकर भी बैकुण्ठ निवासी और क्षीरसागर स्थित हैं। वे सर्वरक्षक होकर भी सर्वभक्षकाध्यक्ष हैं[६]। वे अगम और सुगम दोनों हैं, इसी प्रकार वे सुकर और दुष्कर दोनों हैं[७]।

श्री राम ब्रह्म हैं। वे अपने भक्तों को चार प्रकार के मोक्ष प्रदान करते हैं[८]। उन्होंने पृथ्वी का भार उतारने और भक्तों का कल्याण करने के लिए ही नर-विग्रह धारण किया है[९]। ब्रह्मा और शंकर भी उनकी वन्दना करते हैं[१०]। 'इस विश्व में प्रकट और अप्रकट रूप में भगवान् राम व्याप्त हैं। ज्ञानी पुरुष भगवान् राम को विश्व में इस प्रकार ओत प्रोत देखते हैं; जिस प्रकार वस्त्र में सूत, घड़े में मिट्टी और आभूषणों में सुवर्ण ओतप्रोत रहता है[११]। उन्होंने हरि को हरिता, विधि को विधिता और शिव

---

१. बिनु हेतु करुनाकर। वि० १३६।६
२. तुम सम हेतुरहित कृपालु। वि० ११८।२
३. सरनागत पालक, दरनि आरनी हरिये। वि० २७१।१
४. खीझे देत निज धाम रे। वि० ७१।६
५. अखिल लावण्यगृह, विश्व-विग्रह। वि० ५०।३
   वेदादिक-गिरा के स्वामी, बाहर अंतरजामी। वि० २६३।३
६. हरगनायक-सदन, अरुणपंकजनयन, क्षीरसागर अयन। वि० ५५।७
   सर्वरक्षक सर्वभक्षकाध्यक्ष। वि० ५३।६
७. सुकर, दुःकर। वि० ५८।७
८. जयति सच्चिदव्यापकानन्द परब्रह्म पद विग्रह व्यक्त लीलावतारी।
   जयति कोशलाधीश कल्याण कोशलसुता कुशल कैवल्य फलचारु चारी॥
   विनयपत्रिका ४३।१,२
९. भूमि भर भार हर प्रगट परमात्मा ब्रह्म नर रूप धर भक्त हेतू।
   विनयपत्रिका ५२।७
१०. केशव क्लेशहं केशवन्दितं पद द्वन्द्व मन्दाकिनी मूलभूतं। विनय। ८६
११. आदि मध्यान्त भगवन्! त्वं सर्वगतमीश पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी।
   यथा पटतन्तु, घट मृत्तिका सर्पस्रग दारु करि कनक कटकांगदादी॥
   विनयपत्रिका ५४।४

को शिवता प्रदान की है[१]। वे सृष्टि भी हैं और स्रष्टा भी, दृश्य भी हैं और द्रष्टा भी। वे सगुण और निर्गुण दोनों हैं[२]।

जीव

आत्मा शब्द अत् सातत्य गमने धातु से सिद्ध होता है—अत्+मनिण्=आत्मन्। लिंग पुराण में कहा गया है कि जो सर्वत्र व्याप्त है, सबको अपने में ग्रहण कर लेती है और जिसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है, उसे आत्मा कहते हैं।[३] यही आत्मा जब प्रकृति या शरीर से सम्बन्धित हो जाती है, तब उसे जीव कहते हैं।[४] जीव शब्द जीव् प्राणधारणे धातु में घञ् प्रत्यय का योग करने पर सिद्ध होता है, जीव्+घञ् या जीव्+क=जीव। मनु के मत से दुःख का अनुभव करने वाली शरीरस्थ आत्मा को जीव कहते हैं।[५] वेदान्त सार में कहा गया है कि अपने को कर्ता, भोक्ता मानने वाले चैतन्य को जीव कहते हैं।[६]

भागवत में आत्मा के बारह लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि वह नित्य, अविनाशी, शुद्ध, सबका कारण, व्यापक, असंग, आवरणरहित, एक, क्षेत्रज्ञ, आश्रय, निर्विकार और स्वयं-प्रकाश होती है।[७] वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और

---

१. हरिहि हरिता विधिहि विधिता सिवहि सिवता जो दई। विनय० १३५।३

२. सिद्ध साधक साध्य वाच्य वाचक रूप मंत्र जापक जाप्य सृष्टि स्रष्टा।
परमकारण, कंजनाभ, जलदाभतनु, सगुण, निर्गुण, सकल दृश्य द्रष्टा ।।
विनयपत्रिका ५३।७

३. यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ।। लिङ्ग पुराण १।७०।९६

४. आत्मानं तं विजानीहि सर्वलोकहितात्मकम्।
तस्मिन् यः संश्रितो देहे ह्यब्बिन्दुरिव पुष्करे ।। महाभारत, शान्तिपर्व १८७।२४

५. जीव संज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ।। मनु० १२।१३

६. अयं कर्तृत्व भोक्तृत्व सुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेह।
लोक परलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते ।। वेदान्तसारः पृष्ठ ३६

७. आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसंग्यनावृतः ।।
एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ।। भागवत ७।७।१९, २०

प्रयत्न[1] तथा न्याय दर्शन के अनुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये आत्मा के लक्षण हैं।[2]

सांख्य दर्शन में आत्मा को देहादि से भिन्न बतलाया गया है।[3] तर्क संग्रह में आत्मा को ज्ञान का अधिकरण कहा गया है।[4] गीता[5] और वेदान्त[6] दर्शन में जीव को ईश्वर का अंश बतलाया गया है।

ऋग्वेद में आत्मा[7] शब्द का २६ बार और जीव[8] शब्द का ६३ बार उल्लेख हुआ है। डॉ० गणेशदत्त शर्मा के मत में ऋग्वेद में प्रयुक्त आत्मन् शब्द से परम तत्त्व या विश्वसत्य का निर्देश नहीं किया गया है। ऋग्वेद में तो आत्मन् शब्द से मानव-देह, श्वास, जीवनशक्ति, शरीरात्मा एवं मानव के निजी व्यक्तित्व का ही निर्देश किया गया है।[9] मैं शर्मा जी के मत से सहमत नहीं हूँ। ऋग्वेद में आत्मा शब्द मानव-देह[10] और प्राणवायु[11] आदि अर्थों में तो प्रयुक्त हुआ ही है, किन्तु परमात्मा

---

१. प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्तर विकाराः ।
सुख दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गः ॥ वैशेषिक दर्शन ३।२।४

२. इच्छाद्वेषप्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् । न्याय दर्शन १।१।१०

३. अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधना भावात् । सांख्य दर्शन ६।१
देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् । सांख्य दर्शन ६।२

४. तर्क संग्रह १६

५. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ गीता १५।७

६. अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ।
वेदान्त दर्शन २।३।४३

७. ऋग्वेद-पंचम भाग-सूची खंड-पृष्ठ १००

८. ऋग्वेद-पंचम भाग-सूची खण्ड-पृष्ठ २३३।२३४

९. ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व — डॉ० गणेशदत्त शर्मा-पृष्ठ २६

१०. आत्मान शरीर प्रति । ऋ० १०।९७।८ का सायण भाष्य
आत्मा भोगायतनत्वात् नव प्रियतरो देहः । ऋ० १।१६२।२० का सायण भाष्य
आत्मा देहो वर्तते । ऋ० ७।१०१।६ का सायण भाष्य
आत्मान शरीर । ऋ० १।१६३।६ का सायण भाष्य

११. आत्मा सर्वस्य प्राणिजातस्य प्राणरूपेण धारयिता । ऋ० ७।८७।२ का सायण भाष्य
आत्मा प्राणः । ऋ० १०।१६।३ का सायण भाष्य

के अंशभूत जीवात्मा के अर्थ में भी आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है।[१] अथर्ववेद में आत्मा शब्द ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है।[२] सायण के मत से ऋग्वेद (१।११३।१६) में जीव शब्द जीवात्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[३] ऋग्वेद के एक मन्त्र (१।१६४।३०) में जीवात्मा को अजन्मा बतलाया गया है।[४] ऋग्वेद का वागम्भृणीय सूक्त (१०।१२५) ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस सूक्त के देवता परमात्मा और मन्त्र द्रष्टी ऋषि का अम्भृण पुत्री वाक् हैं। जब जीव को परमात्मा के स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान हो जाता है; तब उसमें और परमात्मा में अभेद स्थापित हो जाता है और वह अपने में परमात्मा की दिव्य शक्तियों का अनुभव करने लगता है। यही स्थिति इस सूक्त की ऋषिका वाक् की हो गयी थी। वाक् कहती है कि मैं रुद्रों और वसुओं के साथ विचरण करती हूँ। मैं आदित्यों और देवों के साथ रहती हूँ। मैं मित्र और वरुण को धारण करती हूँ। मैं इन्द्र, अग्नि और अश्विद्वय का अवलम्बन करती हूँ।[५] जो सोम, प्रस्तर से पीसे जाकर उत्पन्न होते हैं, उन्हें मैं ही धारण करती हूँ। मैं त्वष्टा, पूषा और भग को धारण करती हूँ।[६] मैं राज्य की अधीश्वरी हूँ और

---

१. आत्मा जीवरूपेण तेष्ववस्थानात्। ऋ० १०।१६८।४ का सायण भाष्य
आत्मेव परम प्रेमास्पदतया निरतिशयानन्द स्वरूपः आत्मा यथा सर्वान् सुखयति।
ऋ० १।७३।२ का सायण भाष्य
आत्मानो हि सर्वे तस्मात् उत्पद्यन्ते यथाग्नेः सकाशाद्विस्फुलिङ्गा जायन्ते।
ऋ० १०।१२१।२ सायण भाष्य

२. अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
अथर्ववेद १०।८।४४

३. उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति। ऋ० १।११३।१६
सायण भाष्य—नः अस्माकम् असुः शरीरस्य प्रेरयिता जीवः जीवात्मा आगाद् आगतवान्।

४. जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। ऋ० १।१६४।३०
सायण भाष्य—मृतस्य शरीरस्य सम्बन्धी जीवः मर्त्येन मरणधर्मकेण शरीरेण··· यद्यपि जीवस्य न जन्मास्ति तथापि व पुषस्तत्सद्भावात् तत्संबंधेनोपचर्यते।

५. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यै रुत विश्वदेवै।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ ऋ० १०।१२५।१

६. अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये ३ यजमानाय सुन्वते॥ ऋ० १०।१२५।२

धन देने वाली हूँ। मैं ज्ञानवती हूँ। मैं सब प्राणियों में आविष्ट हूँ।[१] मेरी सहायता से ही सभी प्राणी देखते सुनते और अन्नादि का भोग करते हैं।[२] मैं जिसे चाहती हूँ उसे बली, स्तोता, ऋषि और बुद्धिमान् बना देती हूँ।[३] मैं द्यावापृथिवी में व्याप्त हूँ।[४] मैंने आकाश को उत्पन्न किया है। समुद्र तल में मेरा स्थान है। मैं अपनी उन्नत देह से इस द्युलोक को छूती हूँ।[५] मैं ही भुवन-निर्माण करती हुई वायु के समान बहती हूँ। मेरी महिमा ऐसी है कि मैं द्यावा-पृथिवी का अतिक्रमण कर चुकी हूँ।[६] अथर्ववेद में कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष शरीर में भ्रमण करने वाले प्राणों को अपने वश में करके स्वस्थ जीवन व्यतीत करते हैं; फिर दिव्य मार्ग से सीधे स्वर्ग जाते हैं और प्रकाशमय स्थान को प्राप्त करते हैं।[७]

समस्त भूतों, प्राणियों तथा दिशा, प्रदिशा आदि को ब्रह्म मानकर प्रथम उत्पन्न हुई वेदवाणी का सेवन कर साधक आत्मरूप से यज्ञस्वामी ब्रह्म में लीन हो जाता है।[८] द्यावा पृथिवी को ब्रह्म मानकर और यज्ञ कर्मों का अनुष्ठान कर जो ब्रह्म को देखता है; वह अज्ञान से मुक्त होकर ब्रह्म रूप हो जाता है।[९] आलस्य

---

१. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
ता मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्या वेशयन्तीम् ॥ ऋ० १०।१२५।३

२. मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥
ऋग्वेद १०।१२५।४

३. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ऋ० १०।१२५।५

४. अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावा पृथिवी आ विवेश ॥ ऋ० १०।१२५।६

५. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ऋ० १०।१२५।७

६. अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ऋ० १०।१२५।८

७. प्रजानन्तः प्रतिगृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ अथर्ववेद २।३४।५

८. परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ यजु० ३२।११

९. परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः ।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥ यजु० ३२।१२

रहित स्तोता विष्णु के परमपद को उत्तम कर्मों द्वारा प्राप्त करते हैं।[1] जीवात्मा अमर है।[2]

यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में कहा गया है कि इस संसार में ईश्वर सर्वत्र व्याप्त हैं। संसार में जो कुछ भी देखने सुनने में आ रहा है, वह सब परमेश्वर से परिपूर्ण है। अतः उनका स्मरण करते हुए आसक्तिहीन होकर त्यागभाव से विषयों का उपभोग करना चाहिये।[3]

जो मनुष्य सभी प्राणियों में परमात्मा को और परमात्मा में सभी प्राणियों को देखता है, उसके हृदय से घृणा-भाव नष्ट हो जाता है; क्योंकि वह सबमें परमेश्वर का द्रष्टा हो जाता है।[4] वह सबमें समान भाव रखने लगता है। ऐसी अवस्था में उसके हृदय से शोक, मोह आदि विकार नष्ट हो जाते हैं।[5] ऐसा समदर्शी ज्ञानी ईश्वर को प्राप्त होता है।[6]

वद में मनुष्य-शरीर को पीपल का वृक्ष बतलाते हुए कहा गया है कि जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षी इस शरीर रूपी वृक्ष में निवास करते हैं। जीव रूपी पक्षी इस वृक्ष के फलों का उपभोग करता है, अर्थात् कर्म करता है और उनके फलों को भोगता है। दूसरा पक्षी परमात्मा-साक्षी रूप में स्थित रहता है।[7] आत्मा इन्द्रियों के वश में होकर संसार-चक्र में पड़ कर चक्कर काटती रहती है।[8]

---

१. वद्विप्रासो विपन्युवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परम पदम्। सामवेद उ० प्र० ८।२।५०

२. अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येनासयोनि॥ ऋ० १।१६४।३०

३. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ यजु० ४०।१

४. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ यजु० ४०।६

५. यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्व मनु पश्यतः॥ यजु० ४०।७

६. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपाप विद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
यजु० ४०।८

७. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ अथर्ववेद ९।९।४।२०

८. अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥ अथर्ववेद ९।५।१०।११

जब तक जीव को आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान नहीं होता है, तब तक वह द्वैताद्वैत की संदेह युक्त ग्रंथियों में आबद्ध होकर जन्म मरण का दुःख भोगता रहता है।[1] आत्मा अमर है, किन्तु मरणशील मन के साथ मिलकर वह गर्भ से प्रकट होती है।[2]

मायाबद्ध जीवात्मा की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए ऋषि ने लिखा है कि मन में विचार कर मानस चक्षु से विद्वानों ने एक पतंग (जीवात्मा) को देखा कि उसे आसुरी माया आक्रान्त कर चुकी है : अर्थात् जीवात्मा माया से आच्छन्न है। यह बात चिन्तन के द्वारा जानी जाती है। समुद्रवत् परमात्मा के बीच में ही जीवात्मा की स्थिति होती है। परमात्मा का धाम आलोकमय है, वहाँ जाने से ही मुक्ति मिलती है।[3] जीव का कभी विनाश नहीं होता। वह नाना योनियों में भ्रमण करता है।[4] मनुष्य की शारीरिक रचना पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि प्रजापति ने मनुष्य के सिर और हृदय को सिलकर मिलाया है।[5] सिर देवताओं का कोष रूप है। प्राण, अन्न और मन उस सिर की रक्षा करते हैं।[6] जो पुरुष अमरता से सम्पन्न ब्रह्मा की उस पुरी को जानता है, उसे ब्रह्मा मंत्र युक्त, शक्ति, नेत्र, प्राण और संतति प्रदान करते हैं।[7] ब्रह्मा की जिस पुरी में शयन करने के कारण उसे पुरुष कहा जाता है, आठ चक्र और नव द्वारों वाले ऐसे मानव शरीर को जो जानता है, उस

---

१. न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥
अथर्ववेद ९।५।१०।१५

२. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥
अथर्ववेद ९।५।१०।१६

३. पतंगमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः॥ ऋ० १०।१७७।१

४. अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः। ऋ० १०।१७७।३

५. मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः। अथर्ववेद १०।१।२।२६

६. तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः। अथर्व० १०।१।२।२७

७. यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ अथर्व० १०।१।२।२९

पुरुष का साथ उसके और नेत्र वृद्धावस्था से पूर्व नहीं छोड़ते हैं ।[१] उस हिरण्यमय कोश में पूजनीय आत्मा का जो स्थान है, ब्रह्म को जानने वाले ज्ञानी पुरुष उसे भली भाँति जानते हैं ।[२]

जब जीव सच्चिदानंद ब्रह्म के रूप को जानकर उसमें मिल जाता है; तब उसे ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है । सांसारिक सुखों की अपेक्षा ब्रह्मानन्द की उत्तमता का वर्णन करते हुए तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि वैभव के सभी अंगों से समृद्ध; दूसरों के अधिपति और मनुष्य सम्बन्धी सम्पूर्ण भोग सामग्रियों द्वारा सबसे अधिक सम्पन्न मनुष्य को जो सुख मिलता है; वह मनुष्यों का परम आनन्द है । मनुष्यानन्द की अपेक्षा क्रमशः सौ गुना, दस हजार गुना, दस लाख गुना, दस करोड़ गुना, दस अरब गुना, आनन्द क्रमशः पितृगण, गन्धर्व लोक, कर्म देव, आजान देव और प्रजापति लोक का होता है । प्रजापति लोक के सौ आनन्द के बराबर ब्रह्मलोक का आनन्द होता है । यही परम आनन्द है ।[३]

नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा न तो जन्मती है, और न मरती ही है । वह न किसी का कार्य है, और न कारण है । वह अजन्मा और पुरातन है । शरीर के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होता[४] । आत्मा रथी है और शरीर रथ । बुद्धि सारथी, मन लगाम और इन्द्रियाँ घोड़े हैं[५] । जो जीव विवेकशील बुद्धि रूप सारथी से सम्पन्न होकर मन रूप लगाम को वश में रखता है; वह संसार-सागर के पार पहुँच कर सर्व-व्यापी परमात्मा के प्रसिद्ध परम पद को प्राप्त करता है[६] ।

---

१. अष्टाचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।। अथर्व० १०।१।२।३१

२. तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः । अथर्व० १०।१।२।२

३. तैत्तिरीय उपनिषद् २।८

४. नित्यत्वं सर्वकालवर्तित्वम् । जन्म देह सम्बन्धो मरणं देह वियोगः ।
तत्त्वत्रय, पृष्ठ ६
न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।
कठोपनिषद् १।२।१८

५. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु ।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । कठोपनिषद् १।३।३

६. विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।। कठ उप० १।३।६

आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध में उपनिषदों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। आत्मा को बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में धान या जौ के आकार वाली; श्वेताश्वतर उपनिषद् में उसे हृदय-देश में स्थित होने के कारण अंगुष्ठ-परिमाण वाली और बुद्धि-गुण के सम्बन्ध से सूजे की नोक के समान आकार वाली कहा गया है[2]। श्वेताश्वर उपनिषद् के ही एक अन्य मंत्र में आत्मा को बाल की नोक के दस हजारवें भाग के समान सूक्ष्म बतलाया गया है।[3]

भागवत में कहा गया है कि जीव के बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है : विषयों में आसक्त होने पर वह बन्धन का हेतु बनता है और परमात्मा में अनुरक्त होने पर वही मोक्ष का कारण बन जाता है।[4] जिस समय वह मन, मैं और मेरेपन के कारण होने वाले काम, लोभ आदि विकारों से मुक्त और शुद्ध हो जाता है; उस समय वह सुख-दुःख से छूटकर सम अवस्था में आ जाता है।[5] तब जीव अपने ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से युक्त हृदय से आत्मा को प्रकृति से परे एक मात्र (अद्वितीय), भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखंड और उदासीन (सुख-दुःख शून्य) देखता, तथा प्रकृति को शक्तिहीन अनुभव करता है।[6] विवेकवान् व्यक्ति संग या आसक्ति को ही आत्मा का अच्छेद्य बंधन मानते हैं; किन्तु वही संग (आसक्ति) जब सन्तों के प्रति हो जाता है, तब मोक्ष का हेतु बन जाता है।[7] अध्यात्म तत्त्व को

१. अस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः ।
बृहदारण्यक उप० ५।६।१

२. अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकार समन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ।। श्वेताश्वतर उप० ५।८

३. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते । श्वेताश्वरे उप० ५।९

४. चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये । भागवत ३।२५।१५

५. अहं ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः ।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् । भागवत् ३।२५.१६

६. तदा पुरुषमात्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।
निरन्तरं स्वयं ज्योतिरणिमानमखंडितम् ।।
ज्ञानवैराग्ययुक्तेनभक्तियुक्तेन चात्मना ।
परि पश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ।। भागवत् ३।२५।१७, १८

७. प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ।। भागवत ३।२५।२०

जानने वाला ज्ञानी पुरुष अपने शरीर रूपी क्षेत्र में ही ब्रह्मपद का साक्षात्कार कर लेता है।[1]

जीव का कर्तृत्व :—विष्णु पुराण में कहा गया है कि जीव ज्ञानमय तथा निर्वाणस्वरूप है। अज्ञानमय दुःखादि प्रकृति के ही धर्म हैं; आत्मा के नहीं। जिस प्रकार बटलोई के जल का अग्नि से संयोग नहीं होता; तथापि बटलोई के संयोग से ही जल में खौलने के शब्दादि धर्म उत्पन्न हो जाते हैं; उसी प्रकार प्रकृति के संसर्ग से ही जीव प्राकृत धर्मों को स्वीकार करता है; अन्यथा वह तो प्राकृत धर्मों से सर्वथा पृथक् है।[2] वेदान्त दर्शन में कहा गया है कि जीवात्मा का कर्तापने अन्तःकरण और संस्कारों के सम्बन्ध से है; शुद्ध आत्मा में कर्तापन नहीं है। यह जीव जब अन्तःकरण और इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है, तब तो उनके द्वारा किए जाने वाले कर्मों का कर्त्ता होता है और जब उनसे सम्बन्ध छोड़ देता है, तब कर्त्ता नहीं होता।[3]

भागवत में कहा गया है कि जिस तरह जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के साथ जल में शीतलता और चंचलता का सम्बन्ध नहीं होता; उसी प्रकार शरीर में स्थित होने पर भी आत्मा वास्तव में सुख-दुःख आदि धर्मों से लिप्त नहीं होती; क्योंकि वह स्वभाव से निर्विकार, अकर्त्ता और निर्गुण है।[4] किन्तु जब जीव प्राकृत गुणों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है; तब अहंकार से मोहित होकर 'मैं कर्ता हूँ,' ऐसा मानने लगता है।[5] उस अभिमान के कारण वह देह के संसर्ग से किये गए पाप-पुण्य रूप

१. स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञआप्नुयात् ।
क्षेत्रेषु देहेषु तथात्मयोगैरध्यात्मविद् ब्रह्मगतिं लभेत ।। भागवत ७।७।२१

२. निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः ।
दुःखाज्ञानमया धर्माः प्रकृतेस्ते तु नात्मनः ।।
जलस्यनाग्नि संसर्गः स्थाली संगात्तथापि हि ।
शब्दोद्रेकादिकान्धर्मास्तत्करोति यथा नृप ।।
तथात्मा प्रकृतेस्संगादहन्मानादि दूषितः ।
भजते प्राकृतान्धर्मानन्यस्तेभ्यो हि सोऽव्ययः ।। विष्णु पुराण ७।२२।२७

३. यथा च तक्षोभयथा । वेदान्त दर्शन २।३।४०

४. प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ।। भागवत ३।२७।१

५. स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते ।
अहं क्रिया विमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते ।। भागवत ३।२७।२

कर्मों के दोष से अपनी स्वाधीनता और शान्ति को खो बैठता है, तथा उत्तम, मध्यम और नीच योनियों में उत्पन्न होकर संसार-चक्र में घूमता रहता है।[१]

पंचकोश

पंच दशी में जीवात्मा को परिच्छिन्न करने वाले पाँच आवरणों या कोशों का उल्लेख किया गया है। ये पंचकोश निम्नाङ्कित हैं[२]।

(१) अन्नमय कोश
(२) प्राणमय कोश
(३) मनोमय कोश
(४) विज्ञान मय कोश
(५) आनन्द मय कोश

यह स्थूल शरीर अन्नमय है। अन्न से उत्पन्न होने वाला यह शरीर अन्न के बिना नष्ट हो जाता है। इसलिए इसे अन्नमय कोश कहते हैं।[३] अन्नमय कोश का प्रवर्तक प्राणमय कोश है। पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त प्राण को प्राणमय कोश कहते हैं[४]। संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण को मन कहते हैं[५]। ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मन को मनोमय कोश कहते हैं[६]। यह कोश ज्ञानशक्ति प्रधान है[७]। मनोमय कोश का संचालक विज्ञान मय कोश है। ज्ञानेन्द्रियों सहित कर्तृलक्षणात्मक वृत्तियुक्त बुद्धि ही विज्ञानमय कोश है, जो कर्तापन के स्वभाव वाली और जीव के संसार का कारण है[८]। पुण्य के भोगकाल

१. तेन संसार पदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः ।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ।। भागवत ३।२७।३
२. पञ्चदशी । प्र० ३ (पञ्चकोश विवेक विवरण)
३. पञ्चदशी ३।३
४. वेदान्तसार ५।१६
५. तैत्तिरीय उप० २।३ पर शांकर भाष्य
६. ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः
स्यात्कोशो ममाहमिति वस्तु विकल्प हेतुः ।
संज्ञादि भेद कलना कलितो बलीयान्
तत्पूर्व कोशमभिपूर्य विजृम्भते यः ।। विवेक चूडामणि १६६
७. तुलसी दर्शन मीमांसा—डॉ० उदयभानु सिंह पृ० १२४
८. बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः ।
विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसार कारणम् । वि० चू० १८६

में आनन्द के प्रतिबिम्ब से युक्त बुद्धि की अन्तर्मुखी वृत्ति ही आनन्दमय कोश है[१]। वह आनन्दमय है और कोश की भांति जीवात्मा को आच्छादित किये हुए है। अतएव इसे आनन्दमय कोश कहते हैं[२]।

इन पांचों कोशों का सम्बन्ध स्थूल, सूक्ष्म और कारणदेह से होता है। स्थूल शरीर के अन्तर्गत अन्नमय और प्राणमय कोश; सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत मनोमय और विज्ञानमय कोश तथा कारण शरीर के अन्तर्गत, आनन्दमय कोश का परिगणन होता है[३]। प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाला पांच भौतिक शरीर स्थूल शरीर कहलाता है[४]। अज्ञान या अविद्या रूप शरीर को कारण शरीर कहते हैं[५]। जीव के स्वरूप-ज्ञान को आवृत करने वाली अविद्या माया ही उसका कारण-शरीर है। जीव के कारण-शरीर से उसके सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म शरीर में पंच प्राण, दस इन्द्रियां और मन तथा बुद्धि ये सत्रह तत्त्व होते हैं[६]। सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर भी कहते हैं। यह शरीर अज्ञानोपहित जीव को उसके कर्मफलों का अनुभव कराता है[७]। सत्त्व, रज और गुण जीव को आबद्ध किये रहते हैं[८]। जीव जब भगवान् की ओर उन्मुख होता

---

१. पंचदशी ३।६
२. वेदान्तसार ३।१६
३. तुलसी दर्शन मीमांसा—डॉ० उदयभानु सिंह—पृष्ठ १२५
४. त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम् ।
 पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः । विवेक चूड़ामणि ८६
५. अनाद्यविद्याऽनिर्वचनीयं शरीरद्वयकारणमात्रम् ।
 सत्स्वरूपाज्ञानं यदस्ति तत्कारण शरीर मित्याहुः । शब्दकल्पद्रुम
६. एकादशेन्द्रियाणि पंचतन्मात्राणि बुद्धिश्चेति सप्तदश । अहंकारस्य बुद्धावेवान्तर्भावः ।
 वासना भूत सूक्ष्मं च कर्मविद्ये तथैव च ।
 दशेन्द्रियं मनोबुद्धिरेतल्लिंगं विदुर्बुधाः ।। वाचस्पत्यम् पृ० ४८२७
 ज्ञानेन्द्रियपंचकं कर्मेन्द्रियपंचकं वायुपंचकं बुद्धिमनसी चेति सप्तदशावयवानि ।
 वेदान्त सारः पृ० १६
 पंचप्राणमनो बुद्धिर्दशेन्द्रियसमन्वितम् ।
 अपंचीकृतभूतोत्थं सूक्ष्मांगं भोगसाधनम् ।। आत्मबोध १३
७. सवासनं कर्मफलानुभावकं स्वाज्ञानतोऽनादिरुपाधिरात्मनः । विवेक चूड़ामणि । ९९
८. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
 निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। गीता १४।५
 सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः जीवस्य नैव मे ।
 चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ।। भागवत ११।२५।१२

है: तब उसके प्राकृत धर्मों और शारीरिक कर्मों से उत्पन्न कर्मफल का प्रभाव नष्ट हो जाता है[1]।

उपनिषदों में अद्वैतवाद, द्वैतवाद और त्रैतवाद के सूत्र उपलब्ध होते है—

अद्वैतवाद – निम्नांकित मंत्रों मे जीव-ब्रह्म की एकता बतलायी गयी है—

तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि । छान्दोग्य उप० ६।८।७

सर्वं खल्विदं ब्रह्म । छान्दोग्य उप० ३।१४।१

नेह नानास्ति किंचन । बृहदारण्यक उप० ४।४।१९

द्वैतवाद—निम्नांकित मंत्रों में जीव और ईश्वर के पृथक् अस्तित्व का उल्लेख किया गया है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।। श्वेता० उप० ३।२०

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।। श्वेता० ४।१०

एकोवशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतंनेतरेषाम् ।।

श्वेताश्वतर उप० ६।१२

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।। कठोपनिषद् १।२।१६

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।। कठोपनिषद् १।३।१

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।। मुंडक उप० ३।१।१

त्रैतवाद—निम्नांकित मंत्रों में ईश्वर, जीव और जगत् इन तीनों तत्त्वों का उल्लेख किया गया है—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।

श्वेताश्वतर उप० १।१२

---

१. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ।।

श्वेताश्वतर उप० १।१०

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ।।

श्वेताश्वतर उप० १।११

संयुक्तमेतद् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। श्वेता० १।८
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्।

श्वेताश्वतर उप० १।६

तुलसी-साहित्य में जीव का स्वरूप

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में ब्रह्म और जीव को सहज संघाती तथा स्नेही कहा है।[1] जीव ईश्वर के समान नहीं हो सकता।[2] हर्ष शोक, ज्ञान, अज्ञान, अहंता और अभिमान—ये जीव के स्वाभाविक धर्म हैं।[3] मानस में जीव तीन प्रकार के बतलाये गये हैं[4]; १—विषयी २—साधक और ३—सिद्ध। जीव की चार अवस्थायें होती हैं। १—जाग्रत् २—स्वप्न ३—सुषुप्ति ४—तुरीया। इन चारों अवस्थाओं के स्वामी क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ और ब्रह्म कहे गये हैं।[5] जो व्यक्ति माया, ईश्वर और अपने स्वरूप को नहीं जानता है; वही जीव है।[6] अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल और वायु, इन पांच तत्वों से मानव-शरीर का निर्माण होता है। मृत्यु के समय यह शरीर यहीं रह जाता है और अविनाशी नित्य जीव शेष रहता है।[7]

---

१. ब्रह्म जीव सम सहज संघाती। मानस। बालकाण्ड २०।२
ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू। मानस। बालकाण्ड २१७।२
२. जौं अस हिसिषा करहिं नर, जड़ बिबेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महुँ, जीव कि ईस समान।। मानस बाल० ६६
मायाबस परिच्छिन्न जड़, जीव कि ईस समान। मानस उत्तर०।१११
३. हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना।।

मानस बाल०११६।४

४. बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने।

रामचरित मानस २।२७७।२

५. जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन सहित बिराजहीं। मानस बाल० ३२५।४
६. माया ईस न आपु कहुँ, जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सींव।। मानस अरण्यकांड १५
७. छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा।
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।

मानस किष्किन्धा कांड ११।३

जीव माया के वश में रहता है और वह माया के अधीन रहती है। यदि जीव में अखण्ड ज्ञान बना रहे तो फिर जीव और ईश्वर में कोई अन्तर ही न रहे।[१] जीव पर बस है और भगवान् स्वतन्त्र है। जीव अनेक है और ईश्वर एक है। यद्यपि जीव और ईश्वर का यह भेद मायाकृत होने से वास्तविक नहीं है, तथापि भगवान् की कृपा के बिना यह भेद नष्ट नहीं हो सकता।[२] जीव को जब उसके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब वह कर्तापन के अहङ्कार से रहित होकर शरीर धर्म का पालन करते हुए कर्म करता है। इस अवस्था में उसके कर्मों का फल उसे भोगना नहीं पड़ता। ज्ञानाग्नि द्वारा उसका कर्मफल दग्ध हो जाता है।[३] अभेद उपासना में जीव सर्वत्र ब्रह्म को देखता है; उसकी दृष्टि में ब्रह्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता ही नहीं होती। इस अवस्था में जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता।[४]

भेदोपासना में भक्त सर्वत्र अपने इष्ट देव के दर्शन करता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में द्वेष का कोई स्थान नहीं होता।[५] अनन्य भक्त अपने को सेवक और सचराचर जगत् को अपने स्वामी का रूप मानता है।[६] ईश्वर का अंश होने के कारण जीव अविनाशी, चेतन और सुख-राशि होता है।[७] वह माया के वश में होकर तोता और बन्दर की भाँति अज्ञान के कारण अपने को बन्धन युक्त मानकर

१. ग्यान अखण्ड एक सीता बर। माया बस्य जीव सचराचर।
जौं सबके रह ग्यान एक रस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस।।
मानस उत्तरकाण्ड ७८।२३

२. माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी।
पर बस जीव स्वबस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्री कन्ता।।
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।
मानस उत्तरकांड ७८।३।४

३. कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे। मानस उत्तरकांड ११२।२

४. सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा।
रामचरितमानस ७।१११।३

५. उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध। उत्तर० ११२

६. सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त।। किष्किन्धा० ।३

७. ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।
मानस उत्तरकांड ११७।२

दुःख भोगता है।[1] जीव और माया का यह बन्धन यद्यपि असत्य है; किन्तु इसके छूटने में कठिनाई है।[2] इस मायाकृत बन्धन से जीव के मुक्त होने के दो उपाय हैं: १—ज्ञान, २—भक्ति। ज्ञान का मार्ग अत्यन्त कठिन है और उसमें अनेक विघ्न हैं।[3] भक्ति मार्ग सरल है और इससे जीव का निश्चित रूप से कल्याण होता है।[4]

गोस्वामी जी अपना मत बतलाते हुए कह रहे हैं कि सेवक-सेव्य भाव के बिना संसार-सागर से जीव का संतरण सम्भव नहीं है। अतएव जीव को भगवान् राम के पदकमल का भजन करना चाहिए।[5] हरिभक्ति वैराग्य रूपी ढाल से अपनी रक्षा करती हुई; ज्ञानरूपी तलवार से मद, मोह, लोभ रूपी शत्रुओं को मारकर जय प्राप्त करती है।[6] भगवान् के भजन के बिना योगी, विद्वान् और धार्मिक व्यक्ति की भी मुक्ति नहीं होती। अतः सर्वात्मना प्रभु की भक्ति ही विधेय है।[7]

---

१. सो मायावस भयउ गोसाईं। बंध्यो कीर मर्कट की नाईं।। उत्तर० ११७।२

२. जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।। उत्तर० ११७।३

३. कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं, पुनि प्रत्यूह अनेक।। उत्तर० ११८
ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई।।
मानस उत्तरकांड ११९।१

४. राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।
× × ×
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई।।
× × ×
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा।।
मानस उत्तर० ११९।२, ३, ४

५. सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि।। रामचरितमानस ७।११९
बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल।। रामचरितमानस ७।१२२

६. बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरिभगति, देखु खगेस बिचारि।। रामचरितमानस ७।१२०

७. जोगी सूर सुतापस ज्ञानी। धर्मनिरत पण्डित बिज्ञानी।
तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी। रामनमामि नमामि नमामी।।
रामचरितमानस ७।१२४।४

विनय पत्रिका में कवि ने जीव को कहीं भी ब्रह्म नहीं कहा है। उन्होंने अपने को दास, पुत्र आदि कहा है और प्रभु को स्वामी, पिता आदि—

> ब्रह्म तू हौं जीव, तू है ठाकुर हौं चेरो।
> तात मात गुरु सखा तू सब विधि हितु मेरो ॥ विनय पत्रिका ७६

हौं जड़ जीव ईस रघुराया। तुम माया पति हौं बस माया। विनय० १७७

जन्म के अवसर पर प्रत्येक जीव को अपने पूर्व जन्मों का ज्ञान हो आता है और वह प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं अब इस जन्म में भगवान् की भक्ति करूँगा, जिससे अब मुझे फिर से माता के गर्भ में न आना पड़े'—

> तोहि दियो ग्यान बिबेक जनम अनेक की तब सुधि भई।
> तेहि ईस की हौं सरन, जाकी बिषम माया गुन मई ॥ विनय० १३६।४
> ऐसेहि करि बिचार चुप साधी। प्रसव पवन प्रेरेउ अपराधी ॥ विनय १३६।५

जीव जब से भगवान से अलग हुआ है, तभी से वह शरीर को अपना घर माने हुए है। माया के वश में होकर उसने अपने सच्चिदानन्द रूप को भुला दिया है। इसीलिए उसे दारुण दुःख सहने पड़ते हैं और वह अनेक योनियों में भटकता रहता है—

> जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो।
> माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो ॥
> पायो जो दारुन दुसह दुःख, सुखलेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो।
> भवसूल, सोक अनेक जेहि तेहि पथ तू हठि हठि चल्यो ॥
> बहु जोनि जनम जरा बिपति मतिमन्द हरि जान्यो नहीं।
> श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़ ! बिचारु लखि पायो कहीं। विनय० १३६।१

जीव सच्चिदानन्द है। वह अपने स्वरूप को भूल जाने के कारण दुःख भोग रहा है। वह विशुद्ध, अविनाशी, विकाररहित, और सुख स्वरूप है; किन्तु वह भ्रमवश सच्चिदानन्दस्वरूप को भूलकर जगत् में अपने को माया से बँधा हुआ मान लेता है और दुःखी होता है।[1] जीव के हृदय में माया की गाँठ पड़ जाती है, जो बाह्य प्रयत्नों से नहीं खुल पाती।[2] कर्म-वासना, जीव को नाना योनियों में भ्रमित करती

---

1. आनन्द सिन्धु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा।
   मृग भ्रम बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी ॥
   × × ×
   निरमल निरंजन निरबिकार उदार सुख तैं परिहर्‌यो।
   निःकाज राज बिहाय नृप इव सपन कारागृह पर्‌यो ॥ विनय पत्रिका १३६।२
2. बाहर कोटि उपाय करिय अभ्यन्तर ग्रंथि न छूटै। विनय पत्रिका ११५।१

रहती है। इस कर्म-वासना का विनाश प्रभु की कृपा होने पर ही होता है। प्रभु के प्रति भक्ति होने पर जीव का कर्म-बन्धन समाप्त हो जाता है।[१] जब तक जीव के हृदय से 'मैं' और मेरा भाव समाप्त नहीं हो जाता; तब तक जीव को सुख नहीं मिलता।[२] जीव अपने मन से ही अन्य जीवों को शत्रु, मित्र और मध्यस्थ मान लेता है। वस्तुतः यह संसार श्री राम का लीलारूप है। मन के निर्मल होने पर द्वैतभाव नष्ट हो जाता है और यह जगत् राम के रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है।[३]

जगत्

गत्यर्थक गम् धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने पर जगत् शब्द निष्पन्न होता है। जगत् का अर्थ है गमनशील, गच्छति इति जगत्। इसी प्रकार सृ गतौ से संसार शब्द बना है—संसरति असौ संसारः।

ऋग्वेद में जगत् शब्द का विभिन्न रूपों और विभक्तियों में ४८ बार उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है कि प्रलय-दशा में सत् और असत् कुछ भी नहीं था।[४] न मृत्यु थी न अमरता। रात और दिन का भेद नहीं था। वायुशून्य और आत्मावलम्बन से श्वास प्रश्वास युक्त केवल ब्रह्म था। उसके अतिरिक्त

---

१. जनम अनेक किये नाना बिधि करम कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिवेक नीर बिनु, बेद पुरान बखान्यो।। विनय पत्रिका ८८।३
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै। विनय पत्रिका ८९।४
काल, करम, गुन, सुभाउ सब के सीस तपत।
राम नाम महिमा की चरचा चले चपत।। विनय पत्रिका १३०।३

२. तुलसिदास मैं मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै। विनय० १२०।५

३. जो निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति दुख, संशय सोक अपारा।।
सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआईं।
त्यागन गहन उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाईं।।

× × ×

रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिदविलास जग बूझत बूझत-बूझै।। विनय० १२४

४. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।।

ऋग्वेद १०।१२९।१

और कुछ नहीं था।[१] सृष्टि के पहले सर्वत्र अन्धकार था। सर्वत्र जल था। अविद्यमान वस्तु के द्वारा वह सर्वव्यापी ब्रह्म आच्छन्न था।[२] सर्वप्रथम परमात्मा के मन में काम (सिसृक्षा) उत्पन्न हुआ। उससे उत्पत्ति का कारण भूत बीज निकला। बुद्धिमानों ने बुद्धि के द्वारा अपने अन्तःकरण में विचार करके अविद्यमान वस्तु से विद्यमान वस्तु की उत्पत्ति का स्थान निरूपित किया।[३] उनसे बीज-धारक पुरुष उत्पन्न हुए। महिमाएँ उत्पन्न हुईं। उन भोक्ताओं का कार्यकलाप दोनों पार्श्वों में विस्तृत हुआ। नीचे स्वधा रहा और ऊपर प्रयति अवस्थित रहा।[४] प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करे? देवता इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। इसलिए यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई है, इसे कौन जानता है।[५] ये नाना सृष्टियाँ कहाँ से हुईं, किसने सृष्टि की? यह सब वे ही जानें, जो इनके स्वामी हैं और परमधाम में रहते हैं। हो सकता है, कि वे भी यह सब न जानते हों।[६] ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त (१०।१९०) में कहा गया है, कि प्रज्वलित तपस्या से यज्ञ और सत्य उत्पन्न हुए। तदनन्तर दिन रात्रि उत्पन्न हुए और इसके पश्चात् जल से पूर्ण समुद्र

१. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥ ऋ० १०।१२९।२
स्वस्मिन् धीयते ध्रियत आश्रित्य वर्तत इति स्वधा माया।
तस्मात्खलु पूर्वोक्तान्मायासहिताद्ब्रह्मणोऽन्यत्किंचन किमपि वस्तु न आस न बभूव।
ऋ० १०।१२९।२ का सायण भाष्य

२. तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥ ऋ० १०।१२९।३

३. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा। ऋ० १०।१२९।४
कामः समवर्तत सिसृक्षा जातेत्यर्थः। सायण भाष्य

४. तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी दुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्। ऋ० १०।१२९।५

५. को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥ ऋ० १०।१२९।६

६. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद। ऋ० १०।१२९।७
सर्वज्ञ ईश्वर एव तां सृष्टिं जानीयात् नान्य इत्यर्थः।
ऋ० १०।१२९।७ का सायण भाष्य

की उत्पत्ति हुई।[1] समुद्र से संवत्सर उत्पन्न हुआ। ईश्वर दिन रात को बनाते हैं। वे निमिष आदि के स्वामी हैं।[2] पूर्वकाल की सृष्टि के अनुसार ही सूर्य, चन्द्रमा, स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष की रचना होती है।[3]

अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त (१५।१।१ से १५।२।१८ तक) में सृष्टि-विद्या पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जगत् के नियमों से अबाधित कार्य-भावना से क्षोभ व्रात्य नामक ब्रह्म ने प्रजापति को प्रेरित किया।[4] तब प्रजापति आत्मदर्शन कर सृष्टि कार्य में प्रवृत्त हुआ।[5] उस व्रात्य के सात प्राण, सात अपान और सात ही कान हैं।[6] इसका प्रथम ऊर्ध्व प्राण अग्नि है।[7] द्वितीय प्राण आदित्य है।[8] इसका तृतीय प्राण अभ्यूढ़ चन्द्रमा है।[9] चतुर्थ प्राण विभु पवमान है।[10] इसका पंचम प्राण योनि है, जो जलों के रूप में है।[11] षष्ठ प्राण प्रिय नाम वाला है, जो पशुओं के रूप में दृश्यमान है।[12] इसका अपरिमित नामक सप्तम प्राण प्रजा है।[13] व्रात्य का प्रथम अपान पूर्णमासी, द्वितीय अपान अष्टका, तृतीय अपान अमावस्या, चतुर्थ अपान श्रद्धा,

---

१. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्य जायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ ऋ० १०।१९०।१

२. समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहो रात्राणि विदधद्विश्व स्यमिषतो वशी। ऋ० १०।१९०।२

३. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो वः। ऋ० १०।१९०।३

४. व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्। अथर्व० १५।१।१।१

५. स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्न पश्यत् तत् प्रजानयत्। अथर्व० १५।१।१।२

६. तस्य व्रातस्य सप्त प्रणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः। अथर्व० १५।२।१५।१,२

७. तस्य व्रातस्य। योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वोनामायं सो अग्निः।
अथर्व० १५।२।१५।३

८. तस्य व्रातस्य। योस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढ़ो नामासौ स आदित्यः।
अथर्व० १५।२।१५।४

९. तस्य व्रातस्य। योऽस्य तृतीयः प्राणेभ्यूढ़ो नामासौ च चन्द्रमाः।
अथर्व० १५।२।१५।५

१०. तस्य व्रातस्य। योऽस्य चतुर्थः प्राणो-विभूर्नामायं स पवमानः।
अथर्व० १५।२।१५।६

११. योऽस्य पंचमः प्राणो यो निर्नामता इमा आप। अथर्व० १५।२।१५।७

१२. योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः। अथर्व० १५।२।१५।८

१३. योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः। अथर्व० १५।२।१५।९

पंचम अपान दीक्षा, षष्ठ अपान यज्ञ और सप्तम अपान दक्षिणा है।[1] इस व्रात्य के सात व्यानों के नाम क्रमशः भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र, ऋतु, आर्तव और संवत्सर है।[2] इस व्रात्य का दक्षिण अक्षि आदित्य और वाम चक्षु चन्द्रमा है। इसका दक्षिण श्रोत्र पवमान है। दिवस और रात्रि इसकी नासिका है। इसके शीर्ष और कपाल क्रमशः दिति और अदिति हैं तथा संवत्सर इसका सिर है।[3]

अथर्ववेद के मन्यु सूक्त (११।८) में कहा गया है कि विगत युग में जैसा इन्द्र था, वैसा ही इस युग में हुआ है। जैसे सोम, अग्नि, त्वष्टा और धाता पुरातन युग में थे, वैसे ही इस युग में भी हुए।[4] परमात्मा ने ही पृथ्वी, द्यौ और गमन योग्य अन्तरिक्ष की रचना की है।[5] अथर्ववेद में कहा गया है कि यह संसार सात मूल पदार्थों से बना है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, तन्मात्रा और अहंकार। ये सात पदार्थ ही न्यूनाधिक परिमाण में सम्मिलित होकर संसार की प्रत्येक वस्तु को रूप प्रदान करते हैं; साथ ही ये सातों पदार्थ तीन अवस्थाओं सत्व, रज और तम से होकर गुजरते हैं।[6] ब्रह्मांड में देवों की सृष्टि तीन क्रमों में हुई। प्रथमतः सत्यलोक वासी देव आविर्भूत हुए। द्वितीय सृष्टि में अग्नि या गन्धर्व उत्पन्न हुए। तृतीय सृष्टि में औषधियों की

१. तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी।
योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका। तृतीयोऽपानः सामावस्या।
चतुर्थोऽपानः सा श्रद्धा। पंचमोऽपानः सा दीक्षा।
षष्ठोऽपानः स यज्ञः। योऽस्य सप्तमोऽपानस्ता इमा दक्षिणाः।
अथर्व० १५।२।१६।१,७

२. तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य प्रथमो व्यानः सेयं भूमिः।
द्वितीयो व्यान स्तदन्तरिक्षम्। तृतीयो व्यानः सा द्यौः।
चतुर्थो व्यानः तानि नक्षत्राणि। पंचमो व्यानस्त ऋतवः।
षष्ठो व्यानस्त आर्तवाः। सप्तमो व्यानः स संवत्सरः। अथर्व० १५।२।१७।१-७

३. तस्य व्रात्यस्य। यदस्य दक्षिण मक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः। योऽस्य दक्षिणः कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोऽयं स पवमानः। अहो रात्रे नासिके दितिश्चादितिश्चशीर्ष कपाले संवत्सरः शिरः। अथर्व० १५।२।१८।१ ४

४. इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निर जायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाता जायत। अथर्व० ११।८।६

५. यद्धाता भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ अथर्व वेद १०।२।२५

६. चतुरो दिवः प्रदिश चतस्रो भूम्या उत।
देवा गर्भं समैरयन तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे॥ अथर्व वेद १।११।२

उत्पन्न करने वाला पर्जन्य हुआ। उस पर्जन्य ने उत्पन्न होते ही जलों को गर्भ में धारण किया।[1] ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में कहा गया है कि आदि पुरुष से विराट् की उत्पत्ति हुई। उस विराट् से देव पशु, पक्षी और मनुष्य आदि प्राणियों तथा भूमि की सृष्टि हुई।[2] उसके पश्चात् ग्राम्य और जंगली पशु उत्पन्न हुए।[3] ब्राह्मण इस पुरुष का मुख था। क्षत्रिय बाहुरूप और वैश्य जंघा स्वरूप थे। शूद्र इस पुरुष के चरणों से उत्पन्न हुआ।[4] पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, प्राणों से वायु तथा मुख से इन्द्र और अग्नि का जन्म हुआ।[5] उनकी नाभि से अन्तरिक्ष, शिर से स्वर्ग, चरणों से भूमि, कर्णों से दिशाएँ—इस क्रम से लोकों की उत्पत्ति हुई।[6]

ऋग्वेद में कहा गया है कि विश्वकर्मा ने सर्वप्रथम जल को उत्पन्न किया, तदनन्तर जल में इधर-उधर चलने वाले द्यावा-पृथ्वी को।[7] इस प्रकार विश्वकर्मा ने सम्पूर्ण प्राणियों को उत्पन्न किया है, किन्तु अज्ञानी व्यक्ति उन्हें नहीं जानते।[8] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ब्रह्म ने देवताओं की रचना की। इसके बाद उन्होंने तीनों लोकों-पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक-को क्रमशः अग्नि, वायु और सूर्य के अधीन कर दिया।[9]

---

१. विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिद् गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा ॥ यजुर्वेद १७।३२

२. तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः। ऋ० १०।९०।५

३. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सभृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ऋ० १०।९०।८

४. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ऋ० १०।९०।१२

५. चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ ऋ० १०।९०।१३

६. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन् ॥ ऋ० १०।९०।१४

७. चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ता अदद्दहन्त पूर्व आदिद् द्यावा पृथिवी अप्रथेताम् ॥ ऋ० १०।८२।१

८. न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ऋ० १०।८२।७

९. ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तद्देवान सृजत तद्देवा—न्सृष्ट्वेषु लोकेषु व्यारोहयदस्मिन्नेव लोकेऽग्निं वायुमन्तरिक्षे दिव्येव सूर्यम्। शतपथ ब्राह्मण ११।२।३।१

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि ईश्वर जगत् की रचना कर उसी में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं—

सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।   —तैत्तिरीय उप० २।६

ईश्वर से सम्पूर्ण पदार्थ उसी प्रकार प्रादुर्भूत होते हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं; अथवा जैसे मकड़ी के अन्दर से उसके द्वारा बुने गये जाले के तागे निकलते हैं; अथवा जैसे मनुष्य के शरीर से केश और रोम उत्पन्न होते हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केश लोमानि तथा क्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।।

मुंडक उप० १।१।७

तै० उप० में सृष्टिक्रम का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ईश्वर से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न, और अन्न से पुरुष का जन्म हुआ—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।   तैत्तिरीय उप० २।१

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार परमात्मा से प्राण, श्रद्धा आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी और मन आदि अन्तःकरण, इन्द्रिय-समुदाय, अन्न, वीर्य, तप, कर्म, लोक तथा नाम की रचना हुई—

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपोमन्त्राः कर्मलोका लोकेषु च नाम च ।   प्रश्नोपनिषद् ६।४

मनुस्मृति में कहा गया है कि जैसे नयी ऋतु आने पर उस ऋतु के पूर्व सिद्ध चिह्न स्वयं स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाते हैं; वैसे ही कल्पारम्भ में उत्पन्न होने वाले देह, संस्कार युक्त प्राणी उत्पन्न होकर संस्कार वश अपने-अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं—

यथर्तुलिंगान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ।।   मनुस्मृति १।३०

भागवत में कहा गया है कि जगत् जैसा अब है, वैसा ही पहले भी था और भविष्य में भी वैसा ही रहेगा—

यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम् ।   भागवत ३।१०।१३

वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) में कहा गया है कि जगत् तीनों कालों में वर्तमान रहता है । प्रलयावस्था में भी जगत् सूक्ष्म रूप में ईश्वर में स्थित रहता है—

भावे चोपलब्धेः । वेदान्त दर्शन २।१।१५

सत्त्वाच्चावरस्य । वेदान्त दर्शन २।१।१६

छान्दोग्य उपनिषद् में जगत् को कहीं सत् से उत्पन्न कहा गया है, तो कहीं असत् से । निम्नांकित मंत्र में कहा गया है कि आदित्य ब्रह्म है । यह जगत् उसी का विस्तार है । पहले यह असत् ही था—

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत् ।

छान्दोग्य उप० ३।१९।१

इसी उपनिषद् के निम्नांकित मन्त्र में जगत् को सत् से उत्पन्न बतलाया गया है—

कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् ।

छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।२

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि असत् से जगत् उत्पन्न हुआ—

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तैत्तिरीय उप० २।७

वेदान्त दर्शन में जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपनिषदों में प्रतिपादित उपर्युक्त मतों पर विचार करते हुए कहा गया है कि आगे पीछे कहे हुए वाक्यों का समन्वय करने पर असत् शब्द भी ब्रह्म का ही वाचक सिद्ध होता है—

समाकर्षात् । वेदान्त दर्शन १।४।१५

अर्थात् तैत्तिरीय उपनिषद् में जो यह कहा गया है कि असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । अर्थात् पहले यह असत् ही था । इसी से सत् उत्पन्न हुआ । यहाँ असत् शब्द अभाव या मिथ्या का वाचक नहीं है; क्योंकि पहले अनुवाक में ब्रह्म का लक्षण बतलाते हुए उसे सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा गया है । फिर उसी से आकाश आदि के क्रम से समस्त जगत् की उत्पत्ति बतलायी गयी है । तदनन्तर छठें अनुवाक में 'सोऽकामयत' के सः पद से उसी पूर्वानुवाक में वर्णित ब्रह्म का आकर्षण किया गया है । तत्पश्चात् अन्त में कहा गया है कि 'यह जो कुछ है, वह सत्य ही है—सत्य स्वरूप ब्रह्म ही है । उसके बाद इसी विषय में प्रमाण रूप में 'असद् वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि मन्त्र प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए तैत्तिरीय उपनिषद् में प्रयुक्त असद् शब्द मिथ्या या अभाव का वाचक नहीं सिद्ध होता ।

अतः यहां असत् का अर्थ होगा, अप्रकट ब्रह्म; और उससे उत्पन्न होने वाले सत् का अर्थ होगा—जगत् रूप में प्रकट ब्रह्म । इससे यही सिद्ध होता है कि सत् ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है ।

भागवत में सृष्टि का क्रम बतलाते हुए कहा गया है कि भगवान् से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, और जल से पृथ्वी का जन्म हुआ ।

पंचतत्त्वों के मेल से पिंड और ब्रह्माण्ड की रचना हुई ।[१] वह ब्रह्माण्ड रूपी अंडा एक हजार वर्ष तक निर्जीव रूप से जल में पड़ा रहा । फिर काल, कर्म और स्वभाव को स्वीकार करने वाले भगवान् ने उसे जीवित कर दिया । उस अंडे को फोड़ कर विराट् पुरुष निकला, जिसकी जंघाएं, चरण, भुजाएँ, नेत्र, मुख और शिर सहस्रों की संख्या में थे ।[२] हिरण्मय अण्डे से उत्पन्न होने के कारण उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं ।[३]

सृष्टि नव प्रकार की होती है तथा प्राकृत-वैकृत भेद से एक दसवीं सृष्टि और भी है ।[४] दस प्रकार की सृष्टि निम्नांकित है ।[५]

(१) महत्तत्त्व (२) अहंकार (३) भूतसर्ग (४) इन्द्रियां (५) इन्द्रियाधिष्ठाता देवता (६) अविद्या (तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह, महामोह) । उपर्युक्त सृष्टियां प्राकृत सृष्टियां हैं ।[६] (७) स्थावर (वृक्षादि) (८) तिर्यक्-योनि (अट्ठाईस प्रकार की) (९) मनुष्य (१०) देव । ये वैकृत सृष्टियां हैं । सनत्कुमार आदि ऋषि प्राकृत और वैकृत दोनों प्रकार की सृष्टियों के अन्तर्गत परिगणित होते हैं ।[७]

देवसृष्टि आठ प्रकार की होती है—देवता, पितर, असुर, गन्धर्व-अप्सरा, यक्ष-राक्षस, सिद्ध, चारण-विद्याधर, भूत-प्रेत-पिशाच और किन्नर-किम्पुरुष-अश्वमुख आदि ।[८] अमरकोष में देवताओं की १० योनियां बतलायी गयी हैं[९];—विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत । सृष्टि का

---

१. श्री मद्भागवत पुराण २।५।३५-३६
२. स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः ।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्रानन शीर्षवान् ।। भागवत २।५।३५
३. हिरण्मयः स पुरुषः सहस्र परिवत्सरान् ।
आंडकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ।। भागवत् ३।६।६
४. सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः । भागवत ३।१०।१३
५. इत्येते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः । भागवत ३।१०।२८
६. षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु । भागवत ३।१०।१७
७. वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम ।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः ।। भागवत ३।१०।२६
८. देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः ।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ।
भूत प्रेत पिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः । भागवत ३।१०।२७-२८
९. विद्याधराप्सरोयक्ष रक्षोगन्धर्व किन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः । अमरकोष २१-२२

निर्माण २५ तत्वों से होता है। सांख्य कारिका में पचीस तत्वों का परिगणन इस प्रकार किया गया है[१]—

(१) प्रकृति = १

(२) प्रकृति-विकृति = ७ (महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्रायें)

(३) विकृतियाँ = १६ (एकादश इन्द्रियाँ, पंचमहाभूत)

(४) प्रकृति-विकृति से रहित = १ (ज्ञ पुरुष अर्थात् आत्मा)

इस प्रकार कुल पचीस तत्त्व हुए।

पंचीकरण—क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर को पंचतत्त्व कहा जाता है। पंचभूतों के मिलन की प्रक्रिया को पंचीकरण कहते हैं।[२] निम्नांकित सारणी से पंचीकरण की प्रक्रिया स्पष्ट जायेगी।[३]

पंचीकृत स्थूल आकाश = १/२ आकाश + १/८ वायु + १/८ अग्नि + १/८ जल + १/८ पृथ्वी
पंचीकृत स्थूल वायु = १/२ वायु + १/८ आकाश + १/८ अग्नि + १/८ जल + १/८ पृथ्वी
पंचीकृत स्थूल अग्नि = १/२ अग्नि + १/८ आकाश + १/८ वायु + १/८ जल + १/८ पृथ्वी
पंचीकृत स्थूल जल = १/२ जल + १/८ आकाश + १/८ वायु + १/८ अग्नि + १/८ पृथ्वी
पंचीकृत स्थूल पृथ्वी = १/२ पृथ्वी + १/८ आकाश + १/८ वायु + १/८ अग्नि + १/८ जल

इन्हीं पंचीकृत स्थूलभूतो से सृष्टि का निर्माण हुआ है।

गोस्वामी जी ने भी पंचतत्त्वों के योग से मानव-शरीर का निर्मित होना स्वीकार किया है।[४]

सप्तावरण—गोस्वामी जी ने लिखा है कि कागभुशुण्डि सप्तावरणों को भेद कर उड़ा था।[५] डॉ० उदयभानु सिंह ने सप्तावरणों का विवरण देते हुए लिखा है,[६] कि ब्रह्माण्ड सात आवरणों से परिवृत है। भूमण्डल अपने दस गुने रस मात्र जल से, जल

---

१. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः। सांख्यकारिका। ३

२. पंचीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा।
समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः।
अवस्था जागरस्तस्य स्थूलार्थानुभवो यतः। विवेक चूड़ामणि : ६०

३. तुलसी-दर्शन-मीमांसा—डॉ० उदयभानु सिंह, पृ० १५६

४. छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा।
रामचरित मानस ४ ११।२
जड़ पंच मिले जेंहि देह करी। कवितावली ७।२७

५, सप्तावरनभेद करि जहाँ लगे गति मोरि। रामचरितमानस ७।७६

६, तुलसी-दर्शन-मीमांसा—डॉ० उदयभानु सिंह, पृष्ठ १५७

दस गुने रूपमात्र अग्नि से, अग्नि दस गुने स्पर्शमात्र वायु से, वायु दस गुने शब्द मात्र आकाश से, आकाश दस गुने अहंकार से, अहंकार दस गुने महत्तत्व से और महत्तत्व दस गुने प्रधान से आवृत है।[१] ये ही सप्त-आवरण हैं।

सत्कार्य वाद

सांख्य दर्शन में जगत् की सत्ता के सम्बन्ध में सत्कार्यवाद नामक सिद्धान्त का उल्लेख किया है। सत्कार्यवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य आविर्भाव के पूर्व अव्यक्त रूप से अपने कारण में विद्यमान रहता है। इस प्रकार कारण कार्य को अभिव्यक्त करता है, उसे उत्पन्न नहीं करता। गीता में कहा गया है कि असत् का कभी अस्तित्व नहीं होता और सत् का कभी अभाव नहीं होता।[२] सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद की पुष्टि में निम्नांकित पाँच हेतुओं का उल्लेख किया गया है—[३]

(१) असदकारणात्—यदि हम कार्य में कारण को स्थित न मानेंगे, तो फिर असत् से सत् को होना कैसे सम्भव होगा!

(२) उपादान ग्रहणात्—कार्य की सिद्धि के लिए कारण को ही उपादान के रूप में ग्रहण किया जाता है।

(३) सर्वसम्भवाभावात्—यदि कारण-कार्य में सम्बन्ध न माना जायेगा, तो फिर सभी कारणों से सभी कार्य उत्पन्न होने लगेंगे; जो असम्भव बात है।

(४) शक्तस्य शक्यकरणात्—जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, उसी शक्त कारण से शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है।

(५) कारण भावाच्च—कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। दोनों में तादात्म्य होता है। इन्हीं हेतुओं से सिद्ध होता है कि कार्य कारण में सत् अर्थात् निहित रहता है। अतः सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है।[४]

वेदान्त दर्शन में कहा गया है कि यह जगत् प्रलय—अवस्था में भी ब्रह्म में

---

१. पृथ्वदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः।
तोयादिभिः परि वृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः।
यत्र लोक वितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः। भागवत ३।२६।५२

२. नासतो विद्यते भावः, ना भावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्व दर्शिभिः। गीता २।१६

३. असदकरणा दुपादान ग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्य करणात् कारण भावाच्च सत्कार्यम्। सांख्यकारिका। ९

४. भारतीय दर्शन—डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, पृष्ठ १८४-१८६

कारण रूप में स्थित रहता है।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार जगत् प्रलयावस्था में अप्रकट था।[2] छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि जगत् प्रकट होने से पहले भी सत्य था।[3] जिस प्रकार अव्यक्त रूप से तिल में तेल और सूत में वस्त्र की स्थिति होती है; उसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलयावस्था में भी जगत् ब्रह्म में अव्यक्त रूप से स्थित रहता है।

सत्कार्यवाद के दो रूप होते हैं—

१—परिणामवाद २—विवर्तवाद

परिणामवाद तथा विवर्तवाद—किसी भी वस्तु का अन्यथा भाव निम्नांकित दो सिद्धान्तों के आधार पर होता है—

१—परिणामवाद २—विवर्तवाद

जब कारण स्वयं अपने स्वरूप को छोड़कर कार्य के रूप में परिणत हो जाता है, तब उसे परिणाम कहते हैं। दूध का दही के रूप में परिणत हो जाना परिणामवाद का उदाहरण है। जब कारण अपने स्वरूप को छोड़े बिना अन्य रूप में प्रतीत होने लगता है, तब उसे विवर्त कहते हैं। रस्सी में सर्प की प्रतीति होना विवर्तवाद का दृष्टान्त है।[4] पंचदशी में कहा गया है कि वस्तु का पूर्वावस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को धारण कर लेना परिणाम है और पूर्वावस्था छोड़े विना ही दूसरी अवस्था में भावित होना विवर्त है।[5] वेदान्तसार में कहा गया है कि किसी वस्तु में उसी के समान अन्य वस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं। जैसे रस्सी में सर्प का भान

---

१. भावे चोपलब्धेः। वेदान्त दर्शन, २।१।१५

सत्त्वाच्चावरस्य। वेदान्त दर्शन, २।१।१६

असद् व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्। वेदान्त दर्शन २।१।१७

युक्तेः शब्दान्तराच्च। वेदान्त दर्शन २।१।१८

पटवच्च। वेदान्त दर्शन २।१।१९

यथा प्राणादि। वेदान्त दर्शन २।१।२०

२. तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत मासीत्। बृहदारण्यक उप० १।४।७

३. सदेव सोम्येदमग्र आसीद्। छान्दोग्य उप० ६।२।१

सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्। छान्दोग्य उप० ६।२।२

४. तत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणामः अतत्त्वतोऽन्यथा भावो विवर्तः।

ब्रह्मसूत्र वेदान्त कल्पतरु १।२।२१

५. अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता।

स्यात् क्षीरं दधिमृत्कुम्भः सुवर्णं कुण्डलं यथा।

अवस्थान्तर भानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत्। पञ्चदशी १३।८-९

होना अध्यारोप है। इसी प्रकार स्वयं-प्रकाश अनन्त ब्रह्म रूपी वस्तु में अज्ञान तथा तज्जन्य सम्पूर्ण चराचर जगत् रूपी अवस्तु भासित होती है। ब्रह्म रूपी वस्तु में जगत् रूपी अवस्तु का आरोप अध्यारोप है।[१] ब्रह्म सूत्रकार के मत से जगत् ब्रह्म का परिणाम है।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलतः उत्तर मीमांसा दर्शन में परिणामवाद का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु अद्वैत वेदान्तियों ने परिणामवाद के स्थान पर विवर्तवाद की पुष्टि की है।

तुलसी-साहित्य में जगत् का विवेचन

रामचरित मानस में सृष्टि का क्रम बतलाते हुए कहा गया है कि भगवान् से प्रकृति, अन्तःकरण चतुष्टय[३], पंचतन्मात्रायें, पंचमहाभूत[४], देवता[५], पंचप्राण, दस इन्द्रियाँ और स्थूल जगत्[६] उत्पन्न हुए। भगवान् राम से माया, जीव, गुण, काल स्वभाव तथा कर्म और महदादि की उत्पत्ति हुई।[७] भगवान् के अनुशासन से ही प्रभु की माया इस सृष्टि की रचना करती है।[८] प्रकृति के दो भेद होते हैं, १ परा

---

१ असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजड़ समूहोऽवस्तु। अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूप-यत्किंचिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभावात् 'देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादि श्रुतेश्च। वेदान्तसारः (अध्यारोपः)

२ परिणामात्। वेदान्त दर्शन १।४।२७

३. अहंकार शिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान। रामचरित मानस ६।१५

४. गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रन्थन्हि गाए॥
रामचरित मानस ५।५९।१-२

५. बिषय करन सुर जीव समेता। रा० च० मा० ७।११७।३

६. उमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥
रामचरित मानस ३।१३।३

७. माया जीव सुभाव गुन काल करम महदादि।
ईस अंकु ते बढ़त सब ईस अंक बिनु बादि॥ दोहावली २००

८. लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥
रामचरित मानस १।२२५।२

एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥
रामचरित मानस ३।१५।३

दूसरी अपरा। अपरा प्रकृति के आठ भेद होते हैं।[1] गन्धतन्मात्र भूमि, रसतन्मात्र जल, रूप तन्मात्र अग्नि, स्पर्श तन्मात्र वायु, शब्द तन्मात्र आकाश, मन का कारण अहंकार, अहंकार का कारण बुद्धि एवं अहंकार वासना विशिष्ट अविद्यात्मक अव्यक्त। अपरा प्रकृति ही माया है। यह विश्व-प्रपंच उसी का कार्य है। क्षेत्रज्ञ जीव परा प्रकृति है।[2] गोस्वामी जी ने भी प्रकृति के दोनों भेदों-परा और अपरा-का उल्लेख करते हुए भगवान् राम को उनका स्वामी बतलाया है।[3] स्थूल जगत् के रूप में करोड़ों ब्रह्माण्डों की रचना हुई है।[4]

यह संसार जिस रूप में दृष्टिगोचर होता है, उस रूप में सत्य नहीं है। वर्तमान रूप में इसकी सत्ता का अनुभव ईश्वर के यथार्थ ज्ञान के अभाव में वैसे ही होता है; जैसे अंधकार में रस्सी में सर्प की अनुभूति होती है। ईश्वर का ज्ञान होते ही प्रपंच स्वरूपक संसार का अस्तित्व उसी प्रकार समाप्त हो जाता है; जिस प्रकार जागरित होते ही स्वप्नगत भ्रम नष्ट हो जाता है।[5] भगवान् की सत्ता से जड़ माया भी सत्य की तरह प्रतीत होती है।[6] जैसे सीप में चांदी और सूर्य की किरणों में पानी की प्रतीति होती है; उसी प्रकार भ्रम के कारण ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है। यद्यपि यह प्रतीति तीनों कालों में मिथ्या है; तथापि इस भ्रम को कोई नष्ट नहीं कर सकता। यह संसार असत्य होने पर भी भ्रम के कारण सत्य प्रतीत होता है और दुःख देता है।[7] भगवान् की कृपा होने पर ही भ्रम से उत्पन्न होने वाले इस दुःख

---

१. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ गीता ७।४-५

२. तुलसी-दर्शन-मीमांसा—डॉ० उदयभानु सिंह, पृष्ठ १५५

३. पुरुष प्रसिद्ध प्रकाश निधि, प्रकट परावर नाथ। रा० च० मा० १।११६

४. ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै। रा० १।१९२। छन्द २

५. झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ॥
जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई ॥ मानस १।११२।१
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः। मानस १ मङ्गलाचरण

६. जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया। मानस १।११७।४

७. रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥ मानस १।११७
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुःख अहई ॥
जौं सपनें सिर काटइ कोई। बिनु जागें न दूर दुःख होई। मानस १।११८।१

से निवृत्ति सम्भव है ।[1] यह संसार गुण और अवगुण से मिलकर बना है ।[2] संसार मायिक अर्थात् अनित्य है । इसमें उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुयें नाशवान् हैं । इस लिए उन नाशवान् पदार्थों के लिए शोक नहीं करना चाहिए ।[3] इस सृष्टि के मूल में उपादान के कारण रूप में भगवान् राम अन्तर्हित है । अतः कवि ने इस जगत् को राम मय कहा है और रामरूप जगत् को प्रणम्य बतलाया है ।[4]

विनय पत्रिका में कहा गया है कि संसार असत्[5] अविद्यमान[6] और मृषा[7] है । यह संसार आकाश में स्थित पुष्प-फल-युक्त बगीचे के समान मिथ्या है, तथा धुएँ के महल की भाँति क्षण-क्षण में प्रतीत होता है और नष्ट हो जाता है ।[8] मूर्ख जीव इस संसार रूपी रात्रि में निद्रामग्न होकर नाना प्रकार के सुख-दुःखमय स्वप्न देखता है ।[9]

---

१. जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ।। मानस १।११८।२

२. सगुनु खीर अवगुन जल ताता । मिलइ रचइ परपंचु बिधाता ।।
रामचरित मानस २।२३२।३

३. कहहिं जग गति मायिक मुनिनाथा । मानस २।२४७।१
धरनि धाम धनु पुर परिवारू । सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू ।।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं । मोह मूल परमारथु नाहीं ।।
सपनें होइ भिखारि नृप, रंकु नाकपति होइ ।
जागें लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंच जियँ जोइ ।। रामचरित मानस २।९२

४. सीय राम मय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।।
रामचरित मानस।बालकाण्ड
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध । रामचरित मानस ७।११२
बिस्व रूप रघुबंस मनि, करहु बचन बिस्वास । रामचरित मानस ६।१४

५. श्रुति-गुरु-साधु-स्मृति संमत यह दृश्य असत दुखकारी । विनय० १२०।४

६. अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं । विनय० १२०।२

७. तुलसिदास सब बिधि प्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै । विनय० १२१।५
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी । विनय० १२०।१

८. जग नभ बाटिका रही है फल फूलि रे ।
धुवाँ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे ।। विनय पत्रिका । ६६

९. जागु जागु, जीव जड़ ! जोहै जग-जामिनी ।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन दामिनी ।।
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप रे ।
बूड़्यो मृग बारि खायो जेवरी को साँप रे ।।

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

यह भयानक संसार अज्ञान के कारण ही मनोरम दिखलायी पड़ता है। अवश्य ही यह संसार उनके लिए सुखकारी हो सकता है: जो सम, सन्तोष, दया और विवेक युक्त व्यवहार करते हैं।[1] यह संसार प्रभु की अद्भुत रचना है, जो शून्य भीति पर निराकार चित्रकार के द्वारा चित्रित की गयी है। इस अद्भुत संसार में मृगतृष्णा के जल में अन्तर्हित काल रूपी मगर सम्पूर्ण प्राणियों को खा लेता है। भगवान की शरण में जाने पर ही जीव का कल्याण होता है।[2]

यद्यपि यह संसार मिथ्या है; तथापि जब तक प्रभु की कृपा नहीं हो जाती, यह संसार सत्य की तरह प्रतीत होता है।[3] सृष्टि के क्रम का उल्लेख करते हुए कवि ने लिखा है कि मूल प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहंकार, अहंकार से पंच तन्मात्रायें, और उनसे क्रमशः पंच स्थूल भूत, दशेन्द्रियाँ, इंद्रियों के अधिष्ठाता देवता; बुद्धि, मन,

---

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)
कहँ वेद बुध, तू तो बूझि मनमाहिं रे।
दोष दुःख सपने के जागे ही पै जाहिं रे॥
तुलसी जागे ते जाय ताप तिहूँ ताय रे।
राम-नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे॥ विनय पत्रिका। ७३

---

१. अनविचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
समसंतोष दया विवेक तें, व्यवहारी सुखकारी॥
तुलसिदास सब विधि प्रपंच, जग जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भगति, संत-संगति बिनु, को भव त्रास नसावै॥ विनय पत्रिका। १२१

२. केशव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति दुख पाइअ एहि तनु हेरे॥
रबिकर नीर बैसे अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पानकरन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥ विनय पत्रिका। १११

३. है हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी॥
अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं।
बिन बाँधे निज हठ सठ पर बस परयो कीर की नाईं॥ विनय०। १२०

प्राण आदि की सृष्टि होती है। अंत में कवि ने सम्पूर्ण सृष्टि को स्वरूप अर्थात् राम रूप कहा है।[1]

माया—मा माने धातु से य एवं टाप् प्रत्यय का योग करने पर माया शब्द निष्पन्न होता है। माया ईश्वर की उपाधि का नाम है। वह असम्भव को सम्भव सिद्ध करने वाली शक्ति है—

ईश्वरस्य उपाधौ, अघटन घटन साधिकायां शक्तौ।

वैदिक संहिताओं में माया शब्द का भूरिशः प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में माया शब्द अपने विभिन्न रूपों में १०२ बार प्रयुक्त हुआ है।[2] वेदों में माया शब्द का निम्नांकित अर्थों में प्रयोग हुआ है—

(१) प्रज्ञा के अर्थ में—ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में माया शब्द का प्रज्ञा के अर्थ में प्रयोग हुआ है—

मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः। ऋ० ३।३८।७

सायण भाष्य—मायाविनः माया प्रज्ञा प्रज्ञावन्तो देवाः मायया प्रज्ञया।

अर्थात् प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानीजन अग्नि आदि संसार का निर्माण करते हैं।

निरुक्तकार के मत से निम्नांकित मन्त्र में माया का अर्थ प्रज्ञा है—

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।

मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्॥ ऋ०वेद १०।८८।६

प्रज्ञां स्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानाम् यज्ञसम्पादिनाम्। निरुक्त ७।२७

इसी प्रकार ऋग्वेद १।६४।७, १।१४४।१, १।१५१।९, १।१५९।४, १।१६०।३ २।१७।५, ३।२७।७, ३।६०।१, ४।३०।१२, ५।३१।७, ५।४८।१, ५।५८।२, ५।६३।३ ५।६३।६, ५।६३।७, ५।५८।५, ५।८५।६, ६।४८।१४, ६।५८।१, ६।६३।५, ७।६८।४, ७।८८।३, ८।७६।१, ९।७३।५, १०।५।३, १०।२८।४, १०।८५।१८ और १०।१४७।५ में भी प्रज्ञा के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग किया गया है।

यजुर्वेद के निम्नांकित मंत्रों में भी माया का अर्थ बुद्धि या प्रज्ञा है—

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानां रजसः परस्मात्।

महीं साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥ यजुर्वेद १३।४४

---

१. प्रकृति महतत्त्व शब्दादि गुन देवता व्योम मरुदग्नि अमलांबु उर्वी।
बुद्धि मन इन्द्रिय प्रान चित्तात्मा काल परमानु चिच्छक्ति गुर्वी॥
सर्व मेवात्र त्वद्रूप भूपाल मनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।
भुवन भवदंस-कामारि वंदित पदद्वन्द्व मन्दाकिनी जनक जिष्णो॥

विनय पत्रिका। ५४

२. ऋग्वेद—पंचम भाग (सूची खण्ड) पृष्ठ ८६

उवट भाष्य—वरुणस्य मायां प्रज्ञां..................।

महीधर भाष्य—प्राणवतो मायां प्रज्ञां मीयतेऽनया माया प्रज्ञा प्राणिनां प्रज्ञा प्रज्ञामित्यर्थः ।

पंचस्वंतः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।

एतत्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मिन् मायया भवस्युत्तरो मत् ।। यजुर्वेद २३।५२

महीधर भाष्य—किन्त मायया बुद्धया मत् मत्तः उत्तरोऽधिकस्त्वं न भवसि

२ शक्ति के अर्थ में—ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्रों में माया शब्द का 'शक्ति' के अर्थ में प्रयोग हुआ है—

अस्वापयद्भीतये सहस्रा त्रिंशतं हथैः ।

दासानामिन्द्रो मायया । ऋग्वेद ४।३०।२१

सायण भाष्य—इन्द्रो मायया स्वकीयया शक्त्या ।

अहिं मोहानमप आशयानं प्र मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः ।

ऋग्वेद ५।३०।६

सायण भाष्य—इन्द्रः परमैश्वर्य युक्तः मायाभिः स्वकीयाभिः शक्तिभिः अहिं वृत्र सक्षत् अन्यभवत् ।

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम् । ऋग्वेद ३।५३।८

सायण भाष्य—मायाः अनेकरूप ग्रहण सामर्थ्यो पेताः ।

इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते । ऋग्वेद ६।४७।१८

सायण भाष्य—इन्द्रो मायाभिः आत्मीयैः संकल्पैः ।

इसी प्रकार ऋग्वेद ३।३८।७, ३।६१।७, ५।४०।६, और ८।४१।३ में भी शक्ति के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है ।

अथर्ववेद के निम्नांकित मंत्र में माया शब्द निर्मात्री शक्ति का वाचक है—

माया ह जज्ञे मायाया मातली परि । अथर्ववेद ८।६।५

३. कपट के अर्थ में—ऋग्वेद में निम्नांकित मन्त्र में प्रयुक्त माया शब्द कपट का द्योतक है—

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः । ऋ० १।११।७

सायण भाष्य—हे इन्द्र ! त्वं मायिनं नानाविध कपटोपेतं शुष्णं मायाभिः कपटविशेषैः ।

इसी प्रकार ऋग्वेद १।३९.२, १।५१।५, ३।३४।६, ३।५६।१, ४।१६।९, ६।२०।४, ७।१०४।२४, और १०।१४७।२ में भी कपट के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है ।

अथर्ववेद के निम्नांकित मंत्र में माया शब्द का प्रवंचना के अर्थ में प्रयोग हुआ है—

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः । अथर्ववेद २०।२९।४

सायण भाष्य—मायाभिः आत्मीयाभिर्प्रवचनाभिः ।

८. आसुरी माया के अर्थ में—ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्रों में माया शब्द का अर्थ 'आसुरी माया' है—

स सनीलेभिः प्रसहानो अस्य भ्रातुर्न ऋते सप्तथस्य मायाः ।

अथर्ववेद १०।९९।२

सायण भाष्य--माया आसुरी ऋते यज्ञे न संभवतीति शेषः । यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीनामान्मायिनामभ मिनाः प्रोत मायः । ऋ० १।३२।४

सायण भाष्य—मायिनां मायोपेतानामसुराणां सम्बन्धिनीः मायाः प्र अमिनाः प्रकर्षेण नाशितवानसि ।

इसी प्रकार ऋग्वेद १।११७।३, ३।२०।३, ३।३४।३, ५।२।९, ५।४४।२, ६।१८।९, ६।२२।८, ६।२२।९, ६।४५।९, ७।१।१०, ७।९८।५, ७।९९।४, ८।२३।१४, ८।४१।८, और ऋग्वेद १०।७३।५ में भी आसुरी माया के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग किया गया है ।

यजुर्वेद के निम्नांकित मंत्र में आसुरी माया का उल्लेख हुआ है—

स्वस्तय आसुरी माया स्वधया कृतासि । शुक्ल यजुर्वेद ११।६९

५. कर्म के अर्थ में—ऋग्वेद के निम्नांकित मन्त्र में प्रयुक्त माया का अर्थ 'कर्म' है—

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया । ऋ० ९।७३।९

सायण भाष्य—वरुणस्य जिह्वाया अग्रे मायया कर्मणा आ आसिवतः ।

इसी प्रकार ऋग्वेद १।३३।१० और १०।५३।९ में भी कर्म के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है ।

. त्रिगुणात्मिका माया के अर्थ में— ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में माया शब्द 'त्रिगुणात्मिका माया' का वाचक है—

पतंगमक्तमसुरस्यमायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः ।
समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः ।।

ऋ० १०।१७७।१

सायण भाष्य—सर्वोपाधि विहीनस्य पर ब्रह्मणः सम्बन्धिन्या मायया त्रिगुणात्मिकया अक्तं व्यक्तमभिव्यक्तम्...... । यद्वा माययाक्तं जीवरूपेणाभिव्यक्तमात्मानं विपश्चितो वेदान्ताभिज्ञा हृत्स्थेनान्तर्मुखेन मनसा पतंगम् । पतति व्याप्नोतीति समुद्रः परमात्मा । तस्मिन्नधिष्ठानभूतेऽन्तर्मध्ये सर्वं दृश्यजातमध्यस्तत्वेन विचक्षते विपश्यन्ति । अतो दृश्यव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वा(......)।

अर्थात् ज्ञानी पुरुष माया से आक्रान्त जीव के साथ ही अन्तरात्मा में स्थित परमात्मा को देखते हैं। परमात्मा के अतिरिक्त सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ मिथ्या हैं। यह माया जीव के चित्त में मोह उत्पन्न कर देती है—

अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरप माया अघुक्षत्। ऋ० ५।४०।८
सायण भाष्य—स्वर्भानोः एतन्नामकस्यासुरस्य मायाः
स्वाश्रयमव्यामोहयन्ती परांस्तु तथा कुर्वती मायेत्युच्यते।
तादृशीर्मायाः। यत्तुरीयेण ब्रह्मणेत्युक्तम्। तदेतदुक्तं तुरीयं ब्रह्म।

७. मिथ्या के अर्थ में—निम्नांकित मंत्र में माया शब्द मृषा अथवा मिथ्या वाचक है—

मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से। ऋग्वेद १०।५४।२
सायण भाष्य—सा गतिः मायेत् मायैव मृषेत्यर्थः।

परवर्ती शांकर दर्शन में माया को मृषा या मिथ्या की प्रतीति कराने वाली कहा गया है। यह भावना सूत्र रूप में उपर्युक्त मंत्र में अनुस्यूत है।

८. इन्द्रजाल या अभिचार के अर्थ में—अथर्ववेद के निम्नांकित मंत्रों में विचित्र शक्ति, इन्द्रजाल या अभिचार के अर्थ में माया शब्द का उल्लेख हुआ है—

सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया। अथर्ववेद ४।३८।३
यथासितः प्रथयते वशां अनुवपूंषि कृण्वन्नसुरस्यमायया। अथर्ववेद ६।७२।१
पूर्वापरं चरतो मायये तौ शिशू क्रीडन्तौ परियातो अर्णवम्।

अथर्ववेद १३।२।११

चित्रश्चिकित्वान् महिषो वात माया यावतो………। अथर्ववेद १३।२।४२
अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरंकिनो ये चरन्ति।

अथर्ववेद १९।६६।१

इन्द्रो वृत्रम वृणोच्छर्धनीतिः प्रमायिनाममिनाद्। अथर्ववेद २०।११।३
नमुचिं नाम मायिनम्। अथर्ववेद २०।२१।७
अया हत्यं मायया क्षवृधानं। अथर्ववेद २०।३६।६
दवसे वि मायाः। अथर्ववेद २०।३६।८
माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य। अथर्ववेद २०।८७।५

सामवेद के निम्नांकित मन्त्रों में माया शब्द का उल्लेख हुआ है—

विश्वा हि माया अवसि स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु।

सामवेद १।१।३।३

न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्यः।
यो अग्नये ददाश हव्यदातये। सामवेद १।२।१।८

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्त वज्रिन् वीर्यम् ।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तव त्यन्माययावधीरर्चन्ननुस्वराज्यम् ।

सामवेद ५ (१) ३।६।३।४

मायाविनो ममिरे अस्य मायया । सामवेद ६ (३।३) २

डॉ० राधाकृष्णन् का मत है कि ऋग्वेद में जहाँ कहीं माया शब्द आया है, वह केवल ईश्वर के सामर्थ्य एवं शक्ति का द्योतक है। तो भी कभी-कभी माया और इससे निकले हुए मायिन्, मायावन्त आदि शब्दों का व्यवहार राक्षसों की इच्छा को प्रकट करता है। इसके अतिरिक्त माया शब्द का प्रयोग भ्रमजाल एवं प्रदर्शन के अर्थ में भी होता है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण (८।२३) में अद्भुत और ऐन्द्रजालिक चातुरी के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१०।८।२) में दैविक शक्ति के अर्थ में माया शब्द प्रयुक्त हुआ है। शतपथ ब्राह्मण के निम्नांकित मंत्र में अद्भुत शक्ति के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है—

न एते माये असृजन्त । शतपथ ब्राह्मण ३।२।३।१

माया के दो रूप होते हैं—(१) विद्या माया (२) अविद्यामाया ।

नाना तु विद्या चाविद्या च । छान्दोग्य उप० १।१।१०

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि प्रकृति माया है।[2] विनाशशील जड़ वर्ग अविद्या माया है और अविनाशी जीव समुदाय विद्या माया है—

द्वे अक्षरे ब्रह्म परे त्वनन्ते, विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।

श्वेताश्वतर उप० ५।१

अध्यात्म रामायण के अनुसार देह आदि अनात्म पदार्थों में देह-बुद्धि का नाम अविद्या तथा आत्म स्वरूप की प्रतीति एवं अनुभूति का नाम विद्या है—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्यासा प्रकीर्तिता ।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते । अध्यात्म रामायण ३।४।३३

अविद्या माया जीव के बन्धन का हेतु है और विद्या माया जीव को बन्धन से मुक्त कराती है—

अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्यातस्य निवर्तिका । अ० रा० ३।४।२

वेदान्त दर्शन में प्रकृति के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा गया है कि शास्त्रों में अजा नाम से जिस प्रकृति का वर्णन हुआ है, वह भगवान् के अधीन रहने

---

१. भारतीय दर्शन— डॉ० राधाकृष्णन् पृष्ठ ६४
२. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । श्वेताश्वतर उप० ४।१०

वाली उन्हीं की अभिन्न स्वरूपा अनित्य शक्ति है।[1] 'अजा' शब्द तेज आदि त्रिविध तत्वों की कारणभूता परमेश्वर की शक्ति का वाचक है।[2] भागवत में माया के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि आदि पुरुष परमात्मा जिस शक्ति से सम्पूर्ण भूतों के कारण बनते हैं और उनके विषय-भोग तथा मोक्ष की सिद्धि के लिए अथवा अपने उपासकों की सिद्धि के लिए स्वनिर्मित पंचभूतों के द्वारा नाना प्रकार के देव, मनुष्य आदि शरीरों की सृष्टि करते हैं; उसी को माया कहते हैं।[3] विद्या और अविद्या ये दोनों माया के रूप हैं। जीव अविद्या से बन्धन का और विद्या से मोक्ष का अनुभव करता है। माया भगवान् की शक्ति है।[4] सांख्य-मत के अनुसार प्रकृति और पुरुष मिलकर 'पंगु-अंध न्याय' से सृष्टि करते हैं।[5] भागवत में पचीस तत्त्व माने गये हैं। पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रायें, चार अन्तःकरण और दस इन्द्रियाँ[6] और पचीसवाँ तत्त्व काल है।[7] सृष्टि के आरम्भ में कार्य और कारण के रूप में प्रकृति ही रहती है। वही सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की सहायता से जगत् की स्थिति, उत्पत्ति और संहार सम्बन्धी अवस्थाओं को धारण करती है। अव्यक्त पुरुष तो प्रकृति और उसकी अवस्थाओं का केवल साक्षी मात्र रहता है।[8] महत्तत्व आदि कारण-धातुएँ विकार को प्राप्त होते हुए पुरुष के ईक्षण से शक्ति प्राप्त कर परस्पर मिल जाती हैं और प्रकृति का आश्रय ग्रहण कर ब्रह्मांड की सृष्टि करती हैं।[9]

---

१. चमसवदविशेषात् । वेदान्त दर्शन १।४।८

२. ज्योति रूपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके । वेदान्त दर्शन १।४।९

३. एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज ।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्म प्रसिद्धये । भागवत ११।३।३

४. विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् ।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते । भागवत ११।११।३

५. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः । सांख्यकारिका २१

६. पंचभिः पंचभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा ।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः । भागवत ३।२६।११

७. एतावानेव संख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह ।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पंचविंशकः । भागवत ३।२६।१५

८. सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी ।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते । भागवत ११।२२।१७

९. व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया ।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यंडं संहताः प्रकृतेर्बलात् । भागवत ११।२२।१८

वेदान्तसार में माया की निम्नांकित दो शक्तियों का उल्लेख हुआ है —

(१) आवरण शक्ति (२) विक्षेप शक्ति ।

आवरण शक्ति जीव के ज्ञान नेत्रों के सामने आकर ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को उसी प्रकार ढँक लेती है; जिस प्रकार एक छोटा सा मेघ का टुकड़ा द्रष्टा के नेत्रों को ढँककर अनेक योजन विस्तृत सूर्य को छिपा देता है ।

जब ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप छिप जाता है, तब विक्षेप शक्ति नाना प्रकार के जगत्-प्रपंचों की उद्भावना करके उनमें जीव को उसी प्रकार भ्रमित कर देती है, जिस प्रकार रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है ।[1] इस संसार का नानात्व मिथ्या है और अज्ञान के कारण प्रतिभासित होता है । ईश्वर ही सत्य है । जो व्यक्ति इस जगत् में नाना रूपों को देखता है, वह मृत्यु को प्राप्त होता है ।[2]

शंकराचार्य ने ईश्वर की सृष्टि-विधायिनी शक्तिरूपा त्रिगुणात्मिका माया को प्रकृति कहा है ।[3]

इस माया को अव्यक्त भी कहते हैं ।[4] इसे प्रधान और प्रकृति भी कहते हैं ।[5] महदादि समस्त विकारों की जननी होने तथा किसी अन्य प्रकृति की विकृति न होने के कारण इसकी संज्ञा मूल प्रकृति है ।[6] गीता में कहा गया है कि भगवान् की दैवी शक्ति का नाम माया है । वह गुणमयी और दुरत्यया है । भगवत्प्रपन्न जन ही उससे निस्तार पा सकते हैं ।[7] वह न सत् है, न असत् और न सदसदुभय

---

१. अस्याज्ञानस्यावरण विक्षेप नामक मस्ति शक्तिद्वयम् । आवरणशक्ति स्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायत मादित्य मंडलमवलोकयितृनयन पथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञान परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नम संसारिणमवलोकयितृबुद्धि-पिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम् । वेदान्तसार: पृष्ठ २६

२. मनसैवानुद्रष्टव्य नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । बृहदारण्यक उप० ४।४।१९

३. प्रकृतिः ईश्वरस्य विकार कारण शक्तिः त्रिगुणात्मिका माया ।
गीता १३।१९ का शांकर भाष्य

४. अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।। विवेक चूडामणि ११०

५. यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधान प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत् ।। भागवत ३।२६।१०

६. तुलसी—दर्शन—मीमांसा—डॉ० उदय भानु सिंह—पृष्ठ १५३

७. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। गीता ७।१४

रूप है। वह न भिन्न है, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्नोभय रूप है। वह अनिर्वचनीय है।[१]

तुलसी-साहित्य में माया का स्वरूप

गोस्वामी जी ने रामचरित मानस में माया शब्द का निम्नांकित अर्थों में प्रयोग किया है—

१. ईश्वरीय माया के अर्थ में—बोले बिहँसि महेसु, हरिमाया बलु जानि जिय। रा० च० मा० १।५१

निज माया बल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीन दयाला॥
रा० च० मा० १।१३५।८

बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥
रा० च० मा० १।५५।३

सिव बिरंचि कहुँ मोहइ, को है बपुरा आन।
अस जियँ जानि भजहिं, मुनि मायापति भगवान॥ रा० च० मा० ७।६२

अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया॥
रा० च० मा० १।१२७।८

सुनि नारदहि लागि अति दाया। सुनु खग प्रबल राम कै माया॥
जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥
रा० च० मा० ७।५६।२,३

२. आसुरी माया के अर्थ में—मायामय तेहिं कीन्हि रसोई।
रामचरित मानस १।१७३।१

तुम्हरे उपरोहित कहुँ राया। हरि आनब मैं करि निज माया॥
रा० च० मा० १।१६८।२

लै राखेसि गिरि खोह महुँ, माया करि मति भोरि॥
रा० च० मा० १।१७१

तब मारीच कपट मृग भयऊ। रा० च० मा० अरण्य काण्ड २३।१

सही न जाइ कपिन्ह कै मारी। तब रावन माया बिस्तारी॥
रा० च० मा० ६।८८।३

जानि न जाइ निसाचर माया। काम रूप केहि कारन आया॥
रामचरित मानस।सुन्दर० ४३।३

---

१. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्यु भयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्यु भयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीय रूपा॥
विवेक चूड़ामणि—१११

३. दैवी माया के अर्थ में—असुरों की माया की भाँति ही सुरों की भी माया होती है—

सुर माया सब लोग बिमोहे। राम प्रेम अतिसय न बिछोहे॥

मानस २।३०२।२

भरत जनक मुनिजन सचिव, साधु सचेत बिहाइ।
लागि देवमाया सबहि, जथा जोगु जनु पाइ॥ मानस २।३०२
जेहि आश्रमहिं मदन जब गयऊ। निज माया बसंत निरमयऊ॥

मानस १।१२५।२

४. त्रिगुणात्मिका माया के अर्थ में—
सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं, भजिअ महामाया पतिहि। मानस १।१४०
देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥

मानस १।२०२।२

अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥

मानसकि: २०।१

ब्यापि रहेउ संसार महुँ, माया कटक प्रचंड। मानस ७।७१

५. छल के अर्थ में—
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥

मानस ६।१५।२

६. इन्द्रजाल के अर्थ में—
नट कृत बिकट कपट खगराया। नट सेवकहि न ब्यापइ माया॥

मानस ७।१०३।४

माया के सामान्य रूप का विवेचन करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा है कि माया के दो भेद होते हैं।[1]

१—विद्या माया २—अविद्या माया।

सीता विद्या माया हैं। वे प्रभु की इच्छा से सृष्टि की रचना, पालन और संहार करती हैं।[2] वे प्रभु की आदि शक्ति हैं। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता

---

१. तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥

रामचरित मानस ३।१५।२

२. श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह, जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपा निधान की॥

रामचरित मानस २।१२६

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

है। इसीलिए भगवान् राम और उनकी शक्ति सीता में भी कोई अन्तर नहीं है। भगवती सीता के भृकुटि-विलास से ही विश्व निर्मित हो जाता है। ब्रह्माणी, लक्ष्मी और भवानी, सीता के अंश मात्र से उत्पन्न हो जाती है।[1]

भगवान् राम की माया गूलर के विशाल वृक्ष के समान है। अनेक ब्रह्माण्डों के समूह ही उसके फल हैं। चर और अचर जीव गूलर के फल के भीतर रहने वाले छोटे-छोटे जन्तुओं के समान उन ब्रह्मांड रूपी फलों के भीतर निवास करते हैं और वे अपने उस छोटे से ब्रह्मांड के सिवाय दूसरे ब्रह्माण्डों के विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं।[2] भगवान् की माया बड़े-बड़े ज्ञानियों के भी चित्त को विमूढ़ कर देती है।[3] शिव और ब्रह्मा भी इस माया से भयभीत बने रहते हैं।[4] जब यह माया शिव और

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

उद्भवस्थिति संहार कारिणीं क्लेश हारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

रामचरित मानस १।मङ्गलाचरण।५ श्लोक

एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥

मानस।अरण्य० १५।३

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया। रामचरित मानस १।१९२ तीसरा छन्द

लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥ मानस १।२२५

---

१. आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोर यह माया॥

मानस १।१५२।२

गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीताराम पद, जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥ रामचरित मानस १।१८
जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि विलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

रामचरित मानस १।१४८।२

२. ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥
जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥

रामचरित मानस अरण्य काण्ड १३।८

३. जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥

मानस ७।५९।३

४. सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥

मानस ७।७१।८

विरंचि को भी मोह होता है, तब सामान्य जीवों की क्या बात है।[1] देवता, मुनि सभी इसके अधीन हैं।[2]

यह माया सम्पूर्ण चराचर जीवों को अपने वश में रखती है।[3] यह अत्यन्त प्रबल है।[4] यह जीवों को नचाती रहती है।[5] माया जड़ है, किन्तु भगवान् की सत्ता से यह सत्य सी प्रतीत होती है।[6]

अविद्या माया दुःखरूपा है। उसी के वश में होकर जीव भवकूप में पड़कर नाना प्रकार के कष्ट सहता है।[7] मैं और मेरा, तू और तेरा यह भावना ही माया है। इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय और जहाँ तक मन जाता है, वह सब माया है।[8] संसार के सभी प्राणी भगवान् राम की दुस्तर माया के वशीभूत होने के कारण काल, कर्म और गुणों से प्रभावित होकर रात-दिन आवागमन के चक्कर में पड़कर दुःख भोग रहे हैं।[9] संसार के सभी पदार्थ माया से रचित हैं और गुणदोष मय हैं।[10] काम,

---

१. सिव बिरंचि कहुँ मोहइ, को है बपुरा आन ।। मानस ७।६२

२. सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल ।। मानस १।१४०
   हरि माया मोहहिं मुनि ग्यानी । रामचरित मानस १।१४०।४

३. यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवा सुराः ।
   रामचरित मानस मङ्गला चरण १।श्लोक ६
   जीव चराचर बस कै राखे । रामचरित मानस १।२००।२

४. अतिसय प्रबल देव तव माया । छूटइ राम करहु जौं दाया ।।
   रामचरित मानस ४।२१।१

५. देखा जीव नचावहि जाही । रामचरित मानस १।२०२।२

६. जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ।।
   रा० च० मा० १।११७।४

७. एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा । जा बस जीव परा भवकूपा ।। रा० च० मा० ३।१५।३

८. मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ।।
   गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ।।
   रा० च० मा० ३।१५।१

९. तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे ।
   भव पथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे ।।
   रा० च० मा० ७।१३।छन्द २
   सो माया बस भयेउ गोसाईं । बंध्यो कीर मर्कट की नाईं ।।
   रा० च० मा० ७।११७।२

१०. सुनहु तात मायाकृत, गुन अरु दोष अनेक । रामचरित मानस ७।४१

क्रोध, मोह, लोभ, श्रीमद, प्रभुता, त्रिगुण (सत्, रज, तम्) मान, मत्सर त्रिविध तृष्णायें, ये सभी प्रबल अविद्या के कुटुम्बी है।[१] यह अविद्या माया भगवान् श्री राम की दासी है। यद्यपि ज्ञान होने पर इसका अस्तित्व नहीं रह जाता, फिर भी श्री राम की कृपा के बिना यह माया जीव का पीछा नहीं छोड़ती।[२]

विनय पत्रिका में कहा गया है कि माया विश्व-प्रपंच की बीज रूपा, ईश्वर की त्रिगुणात्मिका एवं अनिर्वचनीया शक्ति है। राम इस माया के स्वामी हैं; अतः वे मायापति कहलाते हैं।[३] यह माया जीव के हृदय में मैं—मेरा और तू—तेरा का भेद-भाव उत्पन्न कर देती है।[४] माया जीव को बन्धन में डाल देती है।[५] यह सम्पूर्ण विश्व को नचाने वाली है।[६] जगत् में जीव के कर्म, काल, स्वभाव, गुण और दोष; ये सब भगवान की माया से अस्तित्व में आते हैं। यह माया भगवान् से भयभीत रहती है। शिव और ब्रह्मा आदि भी माया के बन्धन में पड़ जाते हैं।[७] अविद्या माया के बन्धन में पड़कर जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है।[८] भगवान् की कृपा होने पर ही जीव माया के बन्धन से मुक्त होता है।[९]

---

१. मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही।।
× × ×
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा।।
रामचरित मानस ७।७०।८ से ७।७१।४ तक

२. सो दासी रघुबीर के, समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु, नाथ कहौं पद रोपि।। मानस ७।७१

३. तुम माया पति, हौं बस माया। विनय० १७७।३

४. यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया। विनय० ४७।५

५. त्रसित माया-पाश। विनय० ६०।८

६. जाकी माया बस बिरंचि सिव, नाचत पार न पायो। विनय० ९८।३
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब, माया बिबस बिचारे। विनय० १०१।३

७. करम, काल, सुभाउ गुन दोष जीव जग माया तें,
सो सभै भौंह चकित चहति।
ईसनि दिगोसनि, जोगी सनि, मुनी सनि हू,
छोड़ति छोड़ाये तें, गहाये तें गहति।। विनय पत्रिका २४६

८. माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुःख पायो।।
विनय पत्रिका १३६।१

९. माधव अस तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिअ तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया।।
विनय पत्रिका ११६।१

मोक्ष

मोक्ष शब्द 'मुच्लृ मोक्षणे' अथवा मुच् 'प्रमोचने मोदने च' धातु से घञ् प्रत्यय का योग करने पर निष्पन्न होता है। इस प्रकार मोक्ष शब्द के २ अर्थ होते हैं—प्रथम माया के बन्धनों से छुटकारा और द्वितीय परमानन्द की प्राप्ति। मोक्ष शब्द का द्वितीय अर्थ (परमानन्द की प्राप्ति) भावात्मक सत्ता का द्योतक है। छान्दोग्य उपनिषद् में मोक्ष की इसी भावात्मक सत्ता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मुक्त जीव-प्रभु को प्राप्त कर दिव्य नेत्र और मन द्वारा कामनाओं को देखता हुआ रमण करता है। दिव्य जीव परमात्मा की उपासना के द्वारा मोक्ष की अवस्था में सम्पूर्ण लोकों और कामनाओं को प्राप्त करते हैं।[1]

आत्मा के ९ विशेष गुणों बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार का अत्यन्त उच्छेद मोक्ष कहलाता है—

नवानामात्मविशेष गुणानामत्यन्तोच्छेदः मोक्षः।
बुद्धि—सुख—दुःख—इच्छा—द्वेष—प्रयत्न—धर्म—अधर्म
संस्काराः आत्मनो विशेष गुणाः।
वैशेषिक दर्शन ३।२।४ पर श्री धर्मी टीका।

शांकर मत से प्रपंच का विनाश मोक्ष है।[2] रामानुजाचार्य के मत से अहम् के स्वरूप का ज्ञान ही आत्मज्ञान है। मोक्ष की दशा में अहम् का ही प्रकाश होता है।[3] अप्पय दीक्षित के मत से जीव में ब्रह्म के गुणों का संक्रमित होना मोक्ष है।[4] प्रभाकर के मत से जीव की धर्म में स्थिति और अधर्म के त्याग की दशा का नाम मोक्ष है।[5] शास्त्रों में अविद्या के नाश[6] और आत्मा की अपने स्वरूप में

---

१. स वा एषा एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते।
स एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे
च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः सर्वांश्च लोकानाप्नोति
सर्वांश्च कामान् यः तमात्मानमनुविद्य विजानातीति।

छान्दोग्य उपनिषद् ८।१२।५-६

२. प्रपंच विलयो मोक्षः इति शांकराः। भक्ति का विकास—पृष्ठ १०० पर उद्धृत
३. अहमर्थस्यैव आत्मतया सिद्धत्वात् प्रत्यगात्मतत्त्वम्, स च प्रत्यगात्मा। मुक्तो अपि अहम् इत्येव प्रकाशते। स सर्वो अहम् इत्येव प्रकाशते। अहम् इत्येव आत्मनः स्वरूपम्। मोक्ष दशायाम् अहमर्थो अनुवर्तते। रामानुज
४. ब्रह्म प्राप्तिः मोक्षः। ब्रह्मणः गुणसंक्रान्ति जीवे। अप्पयदीक्षित।
५. नियोग सिद्धिः विहित धर्माचरणम्, निषिद्धा धर्म परिहारश्च मोक्षः। प्रभाकर
६. अविद्यास्तमयो मोक्षः।

स्थिति[1] को मोक्ष कहा गया है। योग दर्शन के अनुसार पुरुष के द्वारा भोग और अपवर्ग प्राप्त करने के पश्चात् महत्तत्व आदि का अपने कारण में लीन हो जाना अथवा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में स्थिति हो जाना मोक्ष है।[2] इस प्रकार पतंजलि के मत से ज्ञान होने पर अविद्याजनित दुःख का विनाश ही कैवल्य (मोक्ष) है।[3] मीमांसकों के मत से नित्यसुख की अभिव्यक्ति को मोक्ष कहते हैं।[4] शास्त्र दीपिका में कहा गया है कि त्रिविध सांसारिक बन्धनों से सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना मोक्ष कहलाता है।[5] भारतीय दर्शन में इक्कीस प्रकार के दुःख बतलाये गये हैं। इन इक्कीस दुःखों से सदा के लिये छुटकारा पाना मोक्ष है।[6] न्याय दर्शन में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है।[7] वैशेषिक दर्शन के अनुसार अदृष्ट का अभाव हो जाने पर कर्मचक्र की गति का स्वतः अन्त हो जाता है, तब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है; जन्म-मृत्यु की परम्परा का भी अन्त हो जाता है और सदा के लिए दुःखों से मुक्ति मिल जाती है। इसी को मोक्ष कहते हैं।[8] वायु पुराण में जीव और ब्रह्म की एकता को मोक्ष कहा गया है।[9] अध्यात्म रामायण में कहा गया है कि जिस समय आचार्य और शास्त्र के उपदेश से जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होता है, उसी समय मूला अविद्या अपने कार्य (शरीरादि) तथा इन्द्रियों के सहित अर्थात् अपने स्थूल और सूक्ष्म कार्य के सहित परमात्मा में लीन हो जाती है। अविद्या

---

१. आत्मनः स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः।

२. पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति शक्तिरिति। riTifrrql
योग दर्शन—कैवल्य पाद ३४

३. तद्भावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्। योग दर्शन।साधनपाद।२५

४. नित्यसुखाभिव्यक्तिः इति मीमांसकाः।

५. त्रेधा हि प्रपंचः पुरुषं बध्नाति-भोगायतनं शरीरम्, भोग साधनानि इन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः। त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः।
शास्त्र दीपिका।१२५

६. शरीरं षडिन्द्रियाणि षड् विषयाः षड्बुद्धयः सुखं दुःखञ्च।
एक विंशतिभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्मोक्षः॥
भारतीय दर्शन—डॉ० पारसनाथ द्विवेदी—पृष्ठ २९२

७. तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः। न्याय सूत्र १।१।२२ तस्य दुःखस्य अत्यन्तंविमोक्षो यत्र।

८. तदभावे संयोगा भावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः।
वैशेषिक दर्शन ५।२।१८

९. वायु पुराण। २।४२।६७

को इस लयावस्था को ही मोक्ष कहते है ।[1] भागवत के अनुसार जीव का, अज्ञान-कल्पित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनात्म भाव का परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिति हो जाना मोक्ष है ।[2] शांडिल्य-भक्ति सूत्र में कहा गया है कि निष्काम भक्ति के द्वारा जीव के अन्तःकरण का आत्यन्तिक नाश हो जाने पर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है । ब्रह्मानन्द की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं ।[3]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जब जीव माया के बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्मलोक में जाकर परमानन्द (दिव्य सुखों) का अनुभव करने लगता है; तब उसकी इस ब्राह्मी स्थिति को मोक्ष कहते हैं ।

मुक्ति का क्रम—शास्त्रों में मुक्ति के निम्नाङ्कित तीन रूप बतलाये गये हैं—

१–क्रम मुक्ति २–जीवन्मुक्ति ३–विदेह मुक्ति

क्रम मुक्ति—योगी देवयान गति से अर्चि आदि के क्रम से ब्रह्म लोक में पहुँचकर कार्य ब्रह्म को प्राप्त होता है और अन्त में कार्य ब्रह्म से परब्रह्म में लीन हो जाता है । इसे क्रम मुक्ति कहते हैं ।[4]

जीवन्मुक्ति—ब्रह्मस्थ ज्ञानियों को शरीर रहते हुए ही शारीरिक आसक्ति से मुक्ति मिल जाती है । ज्ञानी-पुरुष सांसारिक द्वन्द्वों से उपरत होकर आत्मभाव में स्थित हो जाता है । ब्रह्मज्ञान होते ही जीव ब्रह्मरूप हो जाता है ।[5] उसे यहीं मुक्ति सुख का अनुभव होने लगता है । मुक्ति के लिए उसे कहीं अन्यत्र नहीं जाना पड़ता ।[6] इसी दशा का नाम जीवन्मुक्ति है ।[7]

---

१. आत्मनोऽविपर्ययामूलाविद्या तदेव हि ।
नाशने कार्यकरणैः सहैव परमात्मनि ।
सावस्था मुक्तिरित्युक्ता ह्युपचारोऽयमात्मनि । अध्यात्म रामायण ३।४।४३-४४

२. निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सहशक्तिभिः ।
मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।। भागवत २।१०।६

३. अनन्यभक्त्या तद् बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम् । शांडिल्य भक्ति सूत्र ९६

४. ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण पक्षमापूर्यमाण संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति । छान्दोग्य उपनिषद् ५।१०।१-२

५. ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति । मुण्डक उपनिषद् ३।२।९

६. योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।६

७. पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् एतद्यो वेदनिहितं गुहायां सोऽविद्या-ग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य । मुण्डक उप० २।१।१०

विदेह मुक्ति—ज्ञानाग्नि द्वारा कर्मक्षय होने पर जीव को मोक्ष की सिद्धि होती है।[1] ज्ञानचक्षु के द्वारा आत्मतत्त्व को देखकर जीव मुक्त हो जाता है।[2] प्रारब्ध के नष्ट हो जाने पर आत्मज्ञानी-पुरुष शरीर का त्याग कर परमधाम को प्राप्त करते हैं। उनका पुनर्जन्म बाधित हो जाता है। इसे विदेह मुक्ति कहते हैं।

विदेह मुक्ति के प्रकार—भागवत में मुक्ति के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं;[3] सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि, और सायुज्य। सालोक्य और सारूप्य में जीव की परमेश्वर से क्रमशः लोक और रूप में समानता स्थापित हो जाती है। सामीप्य मुक्ति जीव की ईश्वर से समीपता और सार्ष्टि मुक्ति पुरुष को ईश्वर के समान भोगों की प्राप्ति का नाम है। सायुज्य मुक्ति में जीव ईश्वर में मिलकर लीन हो जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में मुक्ति के छह भेद बतलाये गये हैं;[4] सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि, लीनता और साम्य। अहिर्बुध्न्य संहिता में कहा गया है कि मुक्त आत्मा का आकार त्रसरेणु के समान होता है। वह अत्यन्त कान्ति से युक्त हो जाती है।[5]

मोक्ष के साधन

अध्यात्म रामायण[6] और भागवत पुराण[7] में मोक्ष के निम्नाङ्कित तीन साधन बतलाये गये हैं—

१—ज्ञान २—कर्म ३—भक्ति।

जो पुरुष कर्म और उसके फल से विरक्त हो चुके हैं, वे ज्ञान योग के अधिकारी हैं। जिनके चित्त में कर्म के प्रति वैराग्य नहीं उत्पन्न हुआ है; वे कर्म योग के

---

१. पुण्यपापमयं देहं क्षपयन कर्मसक्षयात्।
क्षीणदेहः पुनर्देही ब्रह्मत्वमुपगच्छति ।। महाभारत-।शान्ति पर्व।२७५।३८

२. यच्छेदवाङ्मनसी बुद्ध्या तं यच्छेज्ज्ञानचक्षुषा।
ज्ञानमात्मवबोधेन यच्छेदात्मानमात्मना ।। महाभारत।शान्तिपर्व २७४।१२

३. सालोक्य सार्ष्टिसामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत। भागवत ३।२९।१३

४. सार्ष्टि सालोक्य सारूप्य सामीप्यसाम्यलीनताम्।
वदन्ति षड्विधां मुक्ति मुक्तामुक्ति विदो विभो ।। ब्रह्मवैवर्त पुराणे ?।१७

५. तत् पद प्राप्य तत्त्वज्ञा मुच्यन्ते वीतकल्मषाः।
त्रसरेणु प्रमाणास्ते रश्मिकोटिविभूषिताः ।।
आविर्भावतिरो भावधर्म भेदविवर्जिताः। अहिर्बुध्न्य संहिता ६।२७,२८

६. मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ताः पुरा मोक्षाप्ति साधकाः।
कर्म योगो ज्ञान योगो भक्ति योगश्च शाश्वतः ।। अध्यात्म रामायण ७।७।५८

७. योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ।। भागवत ११।२०।६

अधिकारी हैं। जो पुरुष न अत्यन्त आसक्त हैं और न अत्यन्त विरक्त; वे भक्तियोग के अधिकारी हैं।[1]

ज्ञान—ज्ञान के द्वारा जीव को अपने स्वरूप का बोध हो जाता है।[2] ज्ञान शब्द भाववृत्ति से तत्त्व ज्ञान का व्यंजक है और करणवृत्ति से उसके साधन का।[3] वेद में कहा गया है कि आत्मज्ञान होने पर जीव और ब्रह्म की एकता का भान होता है और ऋत का पालन करने पर जीव को आत्मज्ञान होता है—

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै॥ ऋ० ४।२।१

आत्म ज्ञान होने पर इन्द्रियाँ आत्मा के साथ मिलकर चलती हैं और वे बन्धु रूप बनकर व्यापक स्वादमय मधु का पान करती हैं—

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम्॥

ऋग्वेद १।८४।१०

जो साधक प्रकाश स्वरूप परम पुरुष को जान लेता है; वही मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। प्रभु को प्राप्त करने का ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ यजुर्वेद ३१।१८

जो अविनाशी ब्रह्म को जान लेता है, वही आनन्द धाम में प्रतिष्ठित होता है :—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

ऋग्वेद १।१६४।३९

साधक परमात्मा के ज्ञानरूपी कवच में अपने को आच्छादित कर सहस्रों वर्षों तक जीवित रहता है—

---

१. निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥ भागवत ११।२०।७-८

२. ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्। गीता १८।१८ का शांकर भाष्य

३. ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या वृत्तिज्ञानम्।
ज्ञप्तिर्ज्ञानमिति भावव्युत्पत्त्या संविज्ज्ञानम्॥ पदार्थ लक्षण संग्रह—पृष्ठ ८६

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ।।

अथर्ववेद १७।१।२७

यजुर्वेद में कर्म को अविद्या और ज्ञान को विद्या कहा गया है तथा ज्ञान द्वारा अमृत अवस्था को प्राप्य बतलाया गया है—

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभय सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।। यजुर्वेद ४०।१४

प्रभु को जानकर जीव अमर हो जाता है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योः आत्मानं धीरमजरं युवानम् ।।

अथर्ववेद १०।८।४४

सतत जागरूक, दिव्य गुण सम्पन्न ज्ञानी पुरुष ही कल्याण-हेतु दिव्यता के सर्वोच्च शिखर पर आरोहण करते हैं—

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ।।

ऋ० १०।६३।४

यज्ञ करने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु ज्ञान की साधना करने पर जीव स्वर्ग से भी ऊपर प्रकाश युक्त द्यौलोक (ब्रह्मलोक) को प्राप्त कर प्रकाश में विचरण करने लगते हैं—

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठात् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान् स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ।।

अथर्ववेद १८।४।१४

ज्ञानी पुरुष आत्मशक्ति से युक्त होकर अभेद्यपुरी (ब्रह्म लोक) में प्रवेश करते हैं :—

जुहुरे विचितयन्तो अनिमिष नृम्णं पान्ति ।
आ दृढां पुरं विविशुः ।। ऋग्वेद ५।१६।२

ब्रह्म लोक में मुक्त जीव अनन्तकाल तक ब्रह्म-सुख का भोग करते हैं—

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगात् अप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति ।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ।।

ऋग्वेद १।११३।१६

ब्रह्म लोक में जीव को दिव्य ज्योति प्राप्त हो जाती है :—

अपाम सोमममृता अभूम अगन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ।। ऋग्वेद ८।४८।३

इस स्थिति में जीव की कामनायें सांसारिक विषयों से उपरत होकर एकमात्र ब्रह्म में केन्द्रित हो जाती हैं—

न धात्वद्रिक् अपवेति मे मनः त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय ।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि अस्मिन्त्सुसोमे अवपानमस्तुते ।।

ऋग्वेद १०।४३।२

अथर्ववेद (१९।४३) के आठ मन्त्रों में ब्रह्मवेत्ताओं के लिए काम्य ब्रह्मपद की अभिलाषा व्यक्त की गयी है। निम्नांकित मंत्रों में मोक्षविषयक आकांक्षा का उल्लेख किया गया है—

परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ।
उदायुषा स्वायुषोदस्याममृताँ अनु ।। यजुर्वेद ४।२८
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ।। अथर्व० १९।४३।८

अर्थात् तप और दीक्षा के साथ ब्रह्मवेत्ता जिस लोक को जाते हैं, ब्रह्मा मुझे वहीं पहुँचा दें। ब्रह्मा ब्रह्म को मेरे अन्दर धारण करें।

निम्नांकित मन्त्र में स्तोता की अमर होने की कामना व्यक्त हुई है—

स्तोता वां अमृतः स्यात् । ऋ० १।३८।४

निम्नांकित मंत्र में कहा गया है कि हे परमेश्वर ! हम आपकी कृपा से प्राण और शरीर के बन्धन से उसी प्रकार मुक्त हो जाय; जिस प्रकार खरबूजा पककर लता के सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है। आप हमें मोक्ष सुख से कभी वंचित न करें :—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ।।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनादितोमुक्षीय मामुतः ।। यजुर्वेद ३।६०

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि मोक्ष में शरीर या इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते। जीवात्मा के साथ उसके स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब जीव सुनना चाहता है, तब श्रोत्र हो जाता है। इसी प्रकार वह स्पर्श की कामना होने पर त्वचा, देखने का संकल्प होने पर चक्षु हो जाता है--

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनोभवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहंकारो भवति । शतपथ ब्राह्मण १४।२।२।१७

ऋग्वेद के निम्नांकित मंत्र में मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा वाला) शब्द का प्रयोग हुआ है।

मुमुक्ष्वो मनवे मानवस्यते रघुद्रुवः कृष्णसीतास ऊजुवः । ऋग्वेद १।१४०।४

उपनिषदों में ज्ञान को मुक्ति का अन्यतम हेतु माना गया है।[1] ज्ञान होने पर हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, सभी संशय नष्ट हो जाते हैं।[2] द्वैतभाव होने पर ही अन्य की प्रतीति होती है। सम्यक् ज्ञान होने पर यह द्वैतभाव नष्ट हो जाता है। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का अनुभव करती हैं, किन्तु आत्मा इनसे उपरत रहती है।[3] जीव परमात्मा के स्वरूप को जानकर अमृतभाव को प्राप्त होता है।[4] जो व्यक्ति परमात्मा को जान लेता है, वह मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मलोक में जाकर सर्वथा मुक्त हो जाता है।[5] उसकी आत्मा परब्रह्म में लीन हो जाती है।[6] ब्रह्मवेत्ता के हृदय की सम्पूर्ण ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं और वह ब्रह्म ही हो जाता है।[7] साधक जब हृदयस्थ परमेश्वर को जान लेता है, तब वह अमृत स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।[8]

गीता में कहा गया है कि ज्ञानी व्यक्ति सर्वत्र अपनी आत्मा के ही

---

१. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। श्वेताश्वतर ६।१५
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य। मुंडक २।१।१०
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। कठ १।३।१५

२. भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ मुंडक २।२।८

३. यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।

बृहदारण्यक २।४।१४

४. सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥ श्वेता० १।६

५. वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्ध सत्वाः।
ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

मुंडक ३।२।६

६. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

मुण्डक ३।२।८

७. स यो ह वैतत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं पाप्मानं गुहा ग्रन्थिभ्योविमुक्तोऽमृतो भवति। मुंडक ३।२।९

८. ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम। श्वेताश्वतर ६।६

दर्शन करते हैं। अतएव उनके हृदय में प्राणियों के प्रति राग-द्वेष का भाव नष्ट हो जाता है।[1]

भागवत में कहा गया है कि जो पुरुष संसार से विरक्त हो गया है और जिसे सांसारिक पदार्थों में दुःख-बुद्धि हो गयी है, वह अपने गुरुजनों के उपदेश को भली भाँति समझकर बार-बार अपने स्वरूप के ही चिन्तन में संलग्न रहता है। इस अभ्यास से उसका मन अपनी चंचलता को छोड़ देता है।[2] जैसे स्वप्न टूट जाने पर जगा हुआ पुरुष स्वप्न के स्मर्यमाण शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष सूक्ष्म और स्थूल शरीरों में रहने पर भी उनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं रखता।[3] जीवन्मुक्त पुरुष न तो कुछ भला या बुरा काम करते हैं और न कुछ भला या बुरा सोचते ही हैं। वे व्यवहार में समान वृत्ति रखकर आत्मानन्द में ही मग्न रहते हैं।[4] पंचदशी में कहा गया है कि ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है।[5]

कर्म

गीता में ज्ञान के साथ ही कर्म को भी मोक्ष का साधन माना गया है—

सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। गीता ५।२

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि जब साधक अपने सम्पूर्ण कर्म भगवान् के चरणों में अर्पित कर देता है, तब उन कर्मों के फल का अभाव हो जाता है। कर्म-क्षय होने पर साधक परमात्मा को प्राप्त हो जाता है :—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि, भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥

श्वेताश्वतर उप० ६।४

---

१. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ गीता ६।२९

२. निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया॥ भागवत ११।२०।२३

३. देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग्यथा॥ भागवत ११।११।८

४. न कुर्यान्न वदेत् किंचिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥ भागवत ११।११।१७

५. मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा॥ पंचदशी ६।१०

गीता में कहा गया है कि निष्काम कर्म के द्वारा जीव जन्म-मृत्यु रूप महान् भय से उद्धार पा लेता है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। गीता २।४०

ज्ञानी ज्ञानयोग के द्वारा जिस परमधाम को प्राप्त करते हैं, कर्मयोगी को उसी परमधाम की प्राप्ति कर्मयोग के द्वारा हो जाती है :—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।। गीता ५।५

भगवान् का मनन चिन्तन करने वाला कर्मयोगी परमात्मा को शीघ्र प्राप्त हो जाता है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।। गीता ५।६

निष्काम कर्मयोगी को कर्मयोग के द्वारा परमशान्ति की प्राप्ति होती है—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् । गीता ५।१२

निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मों को करता हुआ भी भगवान् की कृपा से परमपद को प्राप्त करता है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।। गीता १८।५६

भक्ति

महाभारत में भक्ति को मोक्ष का साधन बतलाया गया है—

जरामरण मोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।। महाभारत भीष्म पर्व ३१।२९-३०

शांडिल्य भक्ति-सूत्र में स्पष्ट रूप से भक्ति द्वारा बुद्धि के आत्यन्तिक लय का वर्णन करते हुए ईश्वर-साक्षात्कार रूप बोध द्वारा भक्ति से ही मोक्ष की प्राप्ति बतलायी गयी है—

अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम् । शांडिल्य भक्ति सूत्र ९६

परा भक्ति सिद्ध होने पर भक्त को मुक्ति में तभी तक विलम्ब होता है, जब तक उसकी आयु शेष है ।

आयुश्चिरमितरेषां तु हानिरनास्पदत्वात् । शांडिल्य भ० ९७

अध्यात्म रामायण में कहा गया है कि भक्ति के उत्पन्न होते ही भगवान् के स्वरूप का अनुभव हो जाता है और जिसे भगवान् का अनुभव हो जाता है; उसकी

उसी जन्म में मुक्ति हो जाती है।[1] अतः यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष का कारण भक्ति ही है—

भक्तौ संजातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा ।
ममानुभव सिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि ।।
स्यात्तस्मात्कारणं भक्तिर्मोक्षस्येति सुनिश्चितम् ।।

अध्यात्म रामायण ३।१०।२९,३०

भागवत में कहा गया है कि निरन्तर भजन करने से भगवान् साधक के हृदय में आसीन हो जाते है और उसके हृदय की सम्पूर्ण वासनायें नष्ट हो जाती हैं—

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मा सकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ।। भागवत ११।२०।२९

और उस भक्त का परम कल्याण हो जाता है—

तस्मान्मद्भक्ति युक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्य प्रायः श्रेयो भवेदिह ।। भागवत ११।२०।३१

भक्त को ज्ञान वैराग्य आदि से प्राप्त होने वाले फलों-अपवर्ग आदि-की सिद्धि भक्ति के प्रभाव से ही हो जाती है :—

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान वैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वाञ्छति ।। भाग० ११।२०।३२

विवेक चूड़ामणि में भक्ति को मोक्ष का अन्यतम साधन कहा गया है—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी । विवेक चूड़ामणि।३२

आचार्य वल्लभ ने अक्षर ब्रह्म तथा परब्रह्म में भेद प्रदर्शित करके ज्ञान के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति तथा भक्ति के द्वारा सच्चिदानन्द परब्रह्म की प्राप्ति बतलायी है।[1]

तुलसी-साहित्य में मोक्ष का विवेचन

रामचरित मानस में कहा गया है कि धर्म से वैराग्य होता है और योग से ज्ञान। ज्ञान से मोक्ष की सिद्धि होती है।[2] अहङ्कार नष्ट होने पर ज्ञान होता है और ज्ञानी को सर्वत्र प्रभु के दर्शन होते हैं।[3] जो सम्पूर्ण सिद्धियों और तीनों गुणों के प्रति

१. भक्ति काव्य में रहस्यवाद—डॉ० राम नारायण पाण्डेय—पृष्ठ ३२६

२. धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना । ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ।।

रामचरित मानस।अरण्य।१६।१

३. ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं ।।

रा० च० मा०।अरण्य।१५।४

अनासक्त होता है; उसी को परमविरागी मानना चाहिए।[१] यह संसार स्वप्न में देखे गये दृश्यों के समान मिथ्या है। जो परमार्थ तत्त्व के ज्ञाता हैं, वे ही जागतिक मोहनिशा में जाग्रत् रहते हैं। ज्ञान होने पर सांसारिक प्रपंचों से अनासक्ति हो जाती है और प्रभु के चरणों में अनुराग उत्पन्न हो जाता है।[२] मोक्ष की अवस्था का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि सायुज्य मुक्ति होने पर जीव परमात्मा में मिलकर एक रूप हो जाता है और जीवात्मा तथा परमात्मा का भेद समाप्त हो जाता है।[३] जो एकान्तवासी पुरुष मुक्ति के लिए इन्द्रियों का निग्रह कर ईश्वर का भजन करते हैं, वे स्वकीय गति अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।[४] माया; ब्रह्म और जीव को पृथक् करती है।[५] भगवान् जीवों के आवागमन को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं, जिस प्रकार बाज पक्षियों को नष्ट कर देता है।[६] मृत्यु के समय जीव की चित्तवृत्ति जिस प्राणी या पदार्थ में केन्द्रित हो जाती है; मृत्यु के अनन्तर जीव को उसी प्राणी या पदार्थ की प्राप्ति होती है। जड़भरत अन्त काल में

---

१. कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी।।
रा० च० मा०।अरण्य कांड।१५।४

२. सपनें होइ भिखारि नृप, रंक नाक पति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंचु जियँ जोइ।।

× × ×

मोहनिसाँ सब सोवनिहारा। देखिअ स्वपन अनेक प्रकारा।।
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।।
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा।।
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।।
सखा परम पुरुषारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू।।
रामचरित मानस।अयोध्या०।९३।३

३. सुरसरि मिलें सो पावन जैसें। ईस अनीसहि अंतरु तैसें।।
रामचरित मानस १।७०।१

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरिपाई।।
रामचरित मानस।किष्किन्धा कांड।१४।४

४. बिविक्त वासिनः सदा। भजन्ति मुक्तये मुदा।।
निरस्य इन्द्रियादिकं। प्रयान्ति ते गतिं स्वकं।। रामचरित मानस।अरण्य कांड।४।८

५. उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी।।
रामचरित मानस।अरण्य कांड ७।२

६. त्रातु सदा नो भव खग बाजः। रामचरित मानस।अरण्यकांड ११।३

अपने पोषित मृग-शावक पर आसक्त हो गये थे। इस आसक्ति के फलस्वरूप भरत को अगले जन्म में मृग-योनि प्राप्त हुई। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि मरण-काल में भगवान् का ही मनन-चिन्तन करना चाहिए, जिससे मृत्यु के पश्चात् भगवान् की ही प्राप्ति हो।[१] जीव माया के वश में होकर अपने स्वामी को भूल जाता है।[२] प्रभु की कृपा होने पर ही जीव का कल्याण होता है।[३] इसलिए जीव का धर्म है कि वह विषयों की ममता और आसक्ति को त्याग कर भगवान् के दिव्य धाम की प्राप्ति के लिए भगवत्सेवा करे; जिससे जन्म-मरण से सम्बन्धित उसके सारे शोक नष्ट हो जायें। मानव-शरीर धारण करने का सबसे बड़ा लाभ यही है कि जीव इस शरीर को प्राप्त कर भगवान् का भजन करे।[४] कवि ने लिखा है कि रामेश्वर के दर्शन करने से सालोक्य मुक्ति और गङ्गा जल द्वारा रामेश्वर की प्रतिमा का अभिषेक करने से सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति होती है।[५] जो व्यक्ति अन्य सभी साधनों का परित्याग कर एक मात्र प्रभु की प्रपत्ति स्वीकार कर लेता है, वह आवागमन से मुक्त हो जाता है।[६]

मुक्ति के प्रकार

गोस्वामी जी ने मुक्ति के निम्नाङ्कित प्रकारों का उल्लेख किया है :—

१—सालोक्य मुक्तिः—कवि ने लिखा है कि जटायु, शरभंग, व्याध, बालि और विभीषण को सालोक्य मुक्ति प्राप्त हुई थी—

१. जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा।।
रामचरित मानस।अरण्यकांड ३१।३

२. तव माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना।।
रामचरित मानस।किष्किन्धा कांड २।५

३. नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा।।
रामचरित मानस।किष्किन्धा कांड ३।१

४. तजि माया सेइय परलोका। मिटहिं सकल भव संभव सोका।।
देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई।।
रामचरित मानस।किष्किन्धा कांड २३।३

५. जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं।।
जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि। सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि।।
रामचरित मानस।लङ्काकांड ३।१

६. बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
करि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो सम रामहे।।
रामचरित मानस।उत्तर कांड १३।३

अबिरल भगति मांगि बर, गीध गयउ हरि धाम। रामचरित मानस ३।३३

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपां बैकुण्ठ सिधारा ।।

रामचरित मानस ३।९।१

व्याध चित दै चरन मार्यो मूढ़मति मृग जानि।

सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ।। विनय० २१४।५

राम बालि निज धाम पठावा। रामचरित मानस।किष्किन्धा० ११

पुनि मम धाम पाइहहु, जहां संत सब जाहिं। रा० च० मा० ६।११६

२. सामीप्य मुक्ति :—सरयू नदी मे स्नान करने से सामीप्य मुक्ति प्राप्त होती है—

जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा ।।

रामचरित मानस ७।४।३

३. सारूप्य मुक्ति :—कवि के मत से जटायु को सालोक्य मुक्ति के साथ ही सारूप्य मुक्ति भी प्राप्त हुई थी—

गीध-देह तजिधरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा ।।

स्याम गात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी ।।

रा० च० मा० ३।३२।१

४. सायुज्य मुक्ति :—रामेश्वर की प्रतिमा पर गङ्गा जल चढ़ाने वाले साधक को सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति होती है।

जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि। सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि ।।

रामचरित मानस ६।३।१

कवि ने शिशुपाल, शबरी, रावण और कुम्भकर्ण की सायुज्य मुक्ति का उल्लेख किया है—

नेम तें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि।

कियो लीन गु आप में हरि राज सभा मँझारि ।। विनय० २१४।४

तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे ।।

रामचरित मानस ३।३६

तासु तेज समान प्रभु आनन। रामचरित मानस ६।१०३।५

तासु तेज प्रभु बदन समाना। रामचरित मानस ६।७१।४

मोक्ष के साधन

गोस्वामी जी ने मोक्ष के दो साधन माने है—

१—ज्ञान २—भक्ति

ज्ञान—विनय पत्रिका में ज्ञान (विवेक) को मोक्ष का साधन कहा गया है—

बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई। विनय० ११५।५

जनम अनेक किये नाना विधि करम कीच चित सान्यो।

होइ न विमल विवेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो ।। विनय० ८८।३

रामचरित मानस में भी ज्ञान को मोक्ष का साधन बतलाया गया है—

ग्यान मोच्छ प्रद बेद बखाना।

यह विमल विवेक या ज्ञान साक्षात् या परम्परया भगवान् की कृपा होने पर ही प्राप्त होता है—

तुलसिदास हरि गुरु करुना बिनु विमल बिबेक न होई। विनय० ११५।५

बिनु सतसंग बिवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ।। मानस १।३

भक्ति—विनय पत्रिका में भक्ति को भवबन्धन से मुक्ति का मुख्य साधन बतलाया गया है—

तुलसिदास भवरोग रामपद प्रेम हीन नहिं जाई। विनय० ८१।५

छूटै न विपति भजे बिनु रघुपति श्रुति सदेह निबेरो। विनय० ८७।४

ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं।

तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं ।। विनय० ११६।५

सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ चरन बिसराये।

× × ×

राम चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै। विनय० ८२।४

यद्यपि मोक्ष के अनेक साधन बतलाए गए है; किन्तु राम नाम के जप के बिना ये सभी साधन निष्फल हो जाते हैं—

नाना पथ निरबान के, नाना बिधान बहु भाँति।

तुलसी तू मेरे कहे, जपु राम नाम दिन राति ।। विनय० १९२

कवि का मत है कि जिसने जीव को मोह शृंखला से बाँधा है, वही मुक्त कर सकता है।

तुलसिदास यहि जीव मोहरजु, जोइ बाँध्यो सोइ छोरै। विनय० १०२।५

तुलसिदास प्रभु मोह सृंखला, छुटिहि तुम्हारे छोरे ।। विनय० ११८।५

तुलसीदास ने वाक्य ज्ञान की निन्दा करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रात्रि होने पर दीपक की चर्चा करने से अन्धकार दूर नहीं होता, उसी प्रकार वाक्य-ज्ञान की निपुणता अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ नहीं है। भगवान् की कृपा होने पर ही मोह और माया से निवृत्ति होती है—

अस कछु समुझि परत रघुराया।

बिनु तव कृपा दयालु ! दास हित ! मोह न छूटै माया।

वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।

निसि गृह-मध्य दीप की बातन्ह, तम निवृत्त नहिं होई ।। विनय पत्रिका १२३।१,२

जीव को मोहित करने वाली माया राम की दासी है, इसलिए उसके बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए राम की कृपा का होना आवश्यक है :—

संसृति सन्निपात दारुन दुख बिनु हरि कृपा न नासै। विनय पत्रिका ८१

तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारो। विनय पत्रिका ११३

जो भक्त साश्रुनयन होकर प्रभु से अपने उद्धार की प्रार्थना करते हैं, भगवान् श्रीराम उनकी भवभीर नष्ट कर देते हैं—

सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर।
गावत गुन गुन राम के केहि की न मिटी भवभीर।। विनय पत्रिका १६३

रामचरित मानस में भक्ति को जीव के भव-बन्धन से मुक्त होने का उत्तम साधन बतलाया गया है।

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।। उत्तर० ४९।३
भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।।
रामचरित मानस उत्तर० ११५।७

रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भवबन्धन छोरी। बाल २००।२

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ बिषान।।
रामचरित मानस।उत्तर कांड ७८

राकापति षोडस उअहिं, तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ, बिनु रबि राति न जाइ।। उत्तर० ७८

ऐसेहिं बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा।।
रामचरित मानस उत्तर० ७९।१

बारि मथें घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल।।
रामचरित मानस उत्तर० १२२

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां। रा० च० मा० बालकांड १

देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी।।
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही।।
रामचरित मानस बालकांड २०

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।।
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।।
रामचरित मानस उत्तर ११९।२

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई।।
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई।।
रामचरित मानस।उत्तर[illegible]

नगति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृति मूल अबिद्या नासा ।।

रामचरित मानस।उत्तर० ११६।४

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि । रामचरितमानस।उत्तर० ११६

गोस्वामी तुलसीदास का दार्शनिक मत

गोस्वामी जी के पूर्वोक्त दार्शनिक विचारों के आधार पर उन्हें द्वैतवादी, अद्वैतवादी अथवा विशिष्टाद्वैतवादी कहा जाता है। गोस्वामी जी के दार्शनिक मत का निरूपण करने के पूर्व हम द्वैतवाद, अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धान्तों का पर्यालोचन करेंगे, तदनन्तर इन सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में गोस्वामी जी के दार्शनिक विचारों की परीक्षा कर उनके दार्शनिक मत का उल्लेख करेंगे।

द्वैतवाद

द्वैतवाद के प्रवर्तक ब्रह्मा हैं। अतः इस सम्प्रदाय को ब्रह्म सम्प्रदाय कहा जाता है। श्री मध्वाचार्य ने द्वैतवाद के सिद्धान्तों का पोषण किया है। उनके मत से जीव और ईश्वर ये दो मूल तत्त्व होते है।[1] मूल रूप में इन्हीं दो तत्त्वों को स्वीकार करने के कारण इस सम्प्रदाय के दार्शनिक मत को द्वैतवाद कहते हैं। आचार्य मध्व के मत से ईश्वर अनन्त गुणों से युक्त होते हैं। वे जगत् के कर्त्ता, भोक्ता और नियन्ता हैं। वे भक्तों के लिए अवतार धारण करते हैं। लक्ष्मी विष्णु की पराशक्ति हैं।[2] विष्णु के संकल्प से लक्ष्मी संसार की उत्पत्ति, संहार, बन्धन एवं मोक्ष का नियमन करती हैं। वे विष्णु के सदृश नित्य और मुक्त हैं, फिर भी उनसे पृथक् हैं। इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् में भेद है। जीव संख्या में अनन्त और परिमाण में अति सूक्ष्म हैं। जीव मायाबद्ध होकर नाना दुःखों का अनुभव करता है। अल्पज्ञ और अल्प शक्ति वाला जीव सर्वज्ञ ईश्वर के संकल्प से ही कार्य कर पाता है। परमेश्वर के निम्नाङ्कित कार्य होते हैं[3]—

१. सृष्टि २. स्थिति ३. संहार ४. नियमन ५. ज्ञान ६. अज्ञान ७. बन्धन ८. मोक्ष।

जीव ईश्वर से नहीं, वरन् अपने समकोटिक अन्य जीवों से भी भिन्न है। इस

---

१. द्विविध तत्त्वं स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदात् । सर्व दर्शन संग्रह-पृष्ठ २४७
जीवेश्वर भिदा चैव । सर्व-दर्शन संग्रह-पृष्ठ २६६

२. श्री पराप्रकृतिः प्रोक्ता चेतना विष्णु संश्रया । ब्रह्मसूत्र १।२।२२ पर मध्व भाष्य

३. सृष्टिस्थितिसंहारनियमनज्ञानाज्ञानबन्धमोक्षाय ः।

ब्रह्मसूत्र १।१।२ पर मध्वभाष्य

भिन्नता के कारण पूर्वकृत कर्म और ज्ञान आदि माने गये हैं।[1] इस सम्प्रदाय में जीव तीन प्रकार के माने गये हैं :—

१ मुक्ति योग २. नित्य संसारी ३. तमो योग्य।

मुक्ति योग्य जीव उत्तम कोटि के होते हैं।

नित्य संसारी जीव मध्यम कोटि के जीव हैं; जो पृथ्वी, स्वर्ग और नरक आदि लोकों में अपने कर्मानुसार निरन्तर घूमते हुए सुख और दुःख भोगते रहते हैं। तमो योग्य जीव अधम कोटि के हैं; जिनमें राक्षस, दैत्य और पिशाच आदि की गणना होती है।[2] जीव में आनन्द आदि गुणों का आविर्भाव मुक्तावस्था में ही होता है। मुक्त जीव की जगत्सृष्टि के अतिरिक्त सभी इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं।[3] जीव सालोक्य समीप्य और सारूप्य मुक्ति का ही भोग करता है। सायुज्य मुक्ति—ईश्वर में प्रविष्ट होकर भगवद्-देह द्वारा भोग करना—में केवल देवताओं का ही अधिकार है।[4] जीव की भवबन्धन से मुक्ति भगवत्कृपा से होती है। भगवत्कृपा प्राप्त करने के लिए श्रवणादिक नवधा भक्ति का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। नवधा भक्ति से भगवदनुग्रह में बाधक अज्ञानादि का निवारण और प्रेम में वृद्धि होती है।[5] इस प्रकार द्वैतवाद के निरूपक सिद्धान्त निम्नाङ्कित हैं :—[6]

(१) हरिः परतरः - श्री विष्णु ही सर्वोच्च तत्व हैं।

(२) सत्यं जगत्—जगत् सत्य है।

(३) तत्वतो भेदः - भेद वास्तविक है। भेद पाँच प्रकार का होता है :— (क) ईश्वर-जीव का भेद (ख) ईश्वर का जड़ से भेद (ग) जीव का जड़ से भेद (घ) एक जीव का दूसरे जीव से भेद (ङ) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद।

---

१. अनादिविद्याकर्मादिवैचित्र्याद्वैचित्र्यम्। ब्रह्मसूत्र २।३।५० पर मध्वभाष्य

२. ब्रज भाषा के कृष्ण काव्य में माधुर्य भक्ति—डॉ० रूप नारायण—पृष्ठ ६८—

३. सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवदित्युच्यते। तत्र सृष्ट्यादिभ्योऽन्यान्व्यापाराना-प्नोति। ब्रह्मसूत्र ४।४।१७ पर मध्वभाष्य

४. गौड़ीय वैष्णव दर्शन - डॉ० गोपीनाथ कविराज

५. श्रवणादिफलं चाज्ञानविपर्ययादिदर्शनं प्रतिबन्धनिवृत्तिः।

ब्रह्मसूत्र ३।३।४३ पर मध्व भाष्य

६. श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्वतो,

भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।

मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम्,

ह्यक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

भागवत सम्प्रदाय—पृष्ठ २६३-२२४ पर उद्धृत

(४) जीव गणा हरेरनुचरा: - समस्त जीव हरि के अनुचर हैं।

(५) नीचोच्च भावगता: - जीवों में तारतम्य रहता है।

(६) मुक्तिर्नैज सुखानुभूति: - अपने वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है।

(७) अमला भक्ति: - इस मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है, निर्दोष भक्ति।

(८) अक्षादि प्रमाण त्रितयम्—माध्वमत में तीन ही प्रमाण मान्य हैं—
प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द।

(९) आम्नाय वेद्यो हरि: - वेद के प्रतिपाद्य हरि हैं।

विद्वानों के मत से रामचरित मानस के निम्नांकित उद्धरणों में द्वैतवाद के दर्शन होते हैं :—

१—क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अग्यान।
माया बस परिच्छिन्न जड़, जीव कि ईस समान॥

रा० च० मा० ७।१११

२—मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त।

३—जो अस हिसिषा करहिं नर, जड़ विवेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महुँ, जीव कि ईस समान। रा० च० मा० १।६९

४—मायाबस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्री कन्ता॥

रामचरित मानस ७।७८।३, ४

अद्वैतवाद

अद्वैतवाद के सूत्र-वाक्य उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। शंकराचार्य ने उन सूत्र-वाक्यों को आधार बनाकर अद्वैतवाद को एक सुदृढ़ दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। आधुनिक युग में वेदान्त के नाम पर प्रायः अद्वैतदर्शन का ही भाव ग्रहण किया जाता है। अद्वैतवाद के मुख्य तीन सिद्धान्त निम्नांकित हैं—

१—निर्गुण निराकार ब्रह्म सत्य है। जगत् में नानात्व के दर्शन करना भ्रम है :—

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। नेह नानास्ति किंचन। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेद से रहित होता है।

२—जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं होता है :—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभि:।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर:॥ आचार्य शंकर

३—आचार्य शंकर के मत से सत्य वह है, जो जिस रूप में है, उस रूप में उसका व्यभिचार न हो। जिसके रूप में व्यभिचार होता है, वह मिथ्या है, अर्थात्

तीनों कालों में जिसका रूप-परिवर्तन न हो, उसे सत्य कहते हैं ।[1] अद्वैत-दर्शन के अनुसार जगत् की पारमार्थिक सत्ता नहीं है। जीव को भ्रम के कारण ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है। इसे विवर्तवाद कहते हैं। ज्ञान होने पर सर्प के स्थान पर रस्सी शेष रहती है। इसी प्रकार तत्त्व ज्ञान होने पर जगत् के स्थान पर एक मात्र ब्रह्म की सत्ता शेष रह जाती है।

४—तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का चिन्तन करने से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है और जीव इसी शरीर में मुक्त हो जाता है। इसे जीवन्मुक्ति कहते हैं।

५—अद्वैतवाद के अनुसार माया अनिर्वचनीय है। जीव और ईश्वर, ये दोनों माया की उपाधियाँ हैं। विद्यामाया से युक्त होने पर ईश्वर और अविद्या माया से युक्त होने पर जीव संज्ञा होती है। पंचदशी में कहा गया है कि जीव और ईश्वर – ये दोनों माया रूपी कामधेनु की सन्तान हैं—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेवहि ।। पंचदशी ६।३६

विद्वानों के मत से रामचरितमानस और विनय पत्रिका के निम्नांकित प्रसंगों में अद्वैतवाद के दर्शन होते हैं :—

१—यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा:
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौयथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां,
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ।।
रामचरितमानस। मंगलाचरण। श्लोक ६

२—सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। वारि बीचि इव गावहिं बेदा ।।
रामचरितमानस ७।१११।२

३—जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई। रा० च० मा० २।१२७।२

४—सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा। दीप सिखा सोई परम प्रचंडा ।।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रमनासा ।।
रामचरित मानस ७।११८।१

५—यह जगत् असत्य है :—
झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जगु, संत कहंत जे अंतलहा है।
कवितावली ७।३६

१. सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यं,
यद् रूपेण निश्चितं यत्तद्रूपं व्यभिचरदनृतमित्युच्यते।
तैत्तिरीय उप० २।१ पर शांकर भाष्य

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना । सत हरिभजन जगत सब सपना ।।

रामचरित मानस । अरण्यकाण्ड ३९।२

जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ।।

रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानुकर बारि ।

जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि ।।

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई । जदपि असत्य देत दुख अहई ।

जौं सपनें सिर काटै कोई । बिनु जागें न दूरि दुख होई ।।

रामचरितमानस १।११७।८ से १।११८।१ तक

६—सम्पूर्ण सृष्टि-प्रसार माया का रूप है :—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ।।

रामचरितमानस ३।१५।२

७ मृषा होने पर भी जगत् उसी प्रकार दुःखदायी है, जिस प्रकार असत्य होने पर भी स्वप्न दुःख दायक होते है :—

जो जग मृषा तापत्रय अनुभव होइ कहहु केहि लेखे ।

कहि न जाय मृगबारि सत्य, भ्रम ते दुःख होइ बिसेखे ।।

सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै ।

कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै ।। विनयपत्रिका। १२१

८—माया असत्य है :—

सो दासी रघुबीर के, समुझे मिथ्या सोपि ।   रामचरितमानस ७।७१

विशिष्टाद्वैतवाद

विशिष्टाद्वैतवाद की मूल आचार्या श्री या लक्ष्मी हैं। अतः इस सम्प्रदाय को श्री सम्प्रदाय कहते हैं। विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्तक यामुनाचार्य एवं पुष्ठपोषक श्री रामानुजाचार्य हैं। विशिष्टाद्वैतवाद के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

१—मूल तत्व तीन होते हैं—१ चित् (जीव), २ अचित् (जगत्), ३ ईश्वर ।[1] चित् (जीव) और अचित् (जगत्) से विशिष्ट (युक्त) होने के कारण ब्रह्म को चिदचिद्-विशिष्ट कहा जाता है।[2]

२—आचार्य रामानुज के मत से जीव, जगत् और ईश्वर—ये तीनों सत्य हैं।[3]

---

१. तत्वत्रयं चिदचिदीश्वरश्च । तत्वत्रय
ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थ त्रितयं हरिः ।
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुनः ।। सर्वदर्शन संग्रह-पृष्ठ १-७

२. सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्टस्य ब्रह्मणः तदानीं विशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं सिद्धम् ।

३. शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण-पृष्ठ १६३

३—सूक्ष्म चित्, अचित् से स्थूल चित्, अचित् का जन्म होता है। परमेश्वर षड्गुणों या भगों से युक्त होने के कारण भगवान् कहलाते हैं।[1] ईश्वर के निर्गुण और सगुण दोनों रूप सत्य हैं। विशिष्टाद्वैतवाद में ईश्वर से सगुण रूप के प्रति विशेष आस्था व्यक्त की गयी है। ईश्वर सजातीय, विजातीय भेद रहित हैं, किन्तु वे स्वगत भेद से युक्त हैं। जिस प्रकार मानव शरीर से उत्पन्न होने वाले रोम और नाखून, गुण और स्वभाव में त्वचा से भिन्न होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर से उत्पन्न होने वाले जीव और जगत् भी गुण और स्वभाव में अपने स्रष्टा ईश्वर से भिन्न होते हैं।

४—सगुण ईश्वर पांच रूप धारण करता है, पर, व्यूह, विभव, अर्चावतार और अन्तर्यामी। पांचरात्र मत में चतुर्व्यूह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर चार रूपों में अवतार धारण करता है, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। वासुदेव में षड्गुणों, संकर्षण में ज्ञान और बल, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य और वीर्य, अनिरुद्ध में शक्ति और तेज का प्राकट्य होता है। अहिर्बुध्न्य संहिता में कहा गया है कि तीनों व्यूहों की उत्पत्ति भगवान से होती है।[2] शंकराचार्य के मत से संकर्षण (जीव), संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की उत्पत्ति होती है।[3]

५—विशिष्टाद्वैतवाद में जीवन्मुक्ति की मान्यता नहीं है। रामानुज के मत से जीव को विदेह मुक्ति होती है, अर्थात् इसी देह में मुक्ति सम्भव नहीं है। वे जीव की ब्रह्म में लीनता के मत को भी नहीं स्वीकार करते। उनके मत से सारूप्य, सामीप्य आदि मुक्तियों में जीव ब्रह्मानंद का अनुभव करता है। वह मुक्तावस्था में भी ईश्वर के समान नहीं हो सकता।[4]

---

१. ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥ विष्णु पुराण ६।५।७९

२. यत् तद् षाड्गुण्यमित्युक्तं ज्ञानैश्वर्यबलादिकम्।
गुणैस्तस्य त्रिभिः शुद्धा सृष्टिभूतिः प्रवर्तते॥ अहिर्बुध्न्य संहिता ५।१६
तत्र ज्ञानबलद्वन्द्वाद्रूपं सांकर्षणं हरेः।
ऐश्वर्यवीर्यसंभेदाद्रूपं प्राद्युम्नमुच्यते॥ अहिर्बुध्न्य संहिता ५।१७
शक्ति तेजः समुत्कर्षादानिरुद्धी तनुर्हरेः।
एते शक्तिमया व्यूहा गुणोन्मेषस्वलक्षणाः अहिर्बुध्न्य संहिता ५।१८
भगवान् वासुदेवश्च व्यूहाश्चैते त्रयो मुने।
चातुरात्म्यमिदं विद्धि व्यक्ताव्यक्तस्वलक्षणम्॥ अ० सं० ५।२५, २६

३. ब्रह्मसूत्र २।२।४२-४५ पर शांकर भाष्य

४. एवं गुणाः समानास्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च।
सर्वं कर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते॥ सर्वदर्शन संग्रह पृष्ठ ८७

६—विशिष्टाद्वैतवाद में जगत् की उत्पत्ति परिणामवाद के अनुसार मानी जाती है। जिस प्रकार दूध से दही बनता है; उसी प्रकार ब्रह्म से जगत् का उद्भव होता है।[1] सत्य संकल्प प्रभु से उत्पन्न[2] होने के कारण जगत् को असत्य नहीं माना जा सकता। चित् अर्थात् जीव और अचित् अर्थात् जगत्—ये दोनों ही अनादि हैं। सृष्टि की अवस्था में प्रकट होने से पूर्व प्रलयावस्था में ये दोनों परमात्मा में लीन रहते है, नष्ट नहीं होते। इस प्रकार जीव और जगत् की स्थिति प्रत्येक काल में बनी रहती है।[3] ईश्वर जगत् के निमित्त और उपादान दोनों ही कारण होते हैं।[4]

७—विशिष्टाद्वैतवाद में भक्ति और प्रपत्ति को ही मोक्ष का साधन माना गया है।[5]

८—जीव ईश्वर का अंश है।[6] अन्तर्यामी परमेश्वर जीव का नियमन करते है। इस प्रकार ईश्वर नियामक हैं और जीव नियम्य।[7]

९—विशिष्टाद्वैतवाद में जीवों के तीन प्रकार माने गए हैं, नित्य, बद्ध और मुक्त।[8] बद्ध जीव दो प्रकार के होते है, बुभुक्षु और मुमुक्षु।

१०—विशिष्टाद्वैतवाद में माया नित्य मानी गयी है। रामानुज के मत से माया के दो भेद होते हैं;[9] विद्या और अविद्या। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी माया के इन दोनों रूपों का उल्लेख किया गया है।[10] विद्या माया ईश्वर की शक्ति का नाम

---

१. परिणामात्। वेदान्त दर्शन १।४।२७
२. जन्माद्यस्य यतः। वेदान्त दर्शन १।१।२
३. सत्वाच्चावरस्य। वेदान्त दर्शन २।१।१६
४. अस्यविविधविचित्रभोक्तृभोग्य पूर्णस्य जगतः यतोजन्मादितद् ब्रह्मेति।

ब्रह्मसूत्र १।१।२ की रामानुज कृतव्याख्या

अतो ब्रह्मत्वेन परेणवाप्यनुभूयमानं निरतिशयानन्दस्वरूपमेवेति तत्प्रतिपादन परस्यैव साक्षात्पुरुषार्थान्वयः। ब्रह्मसूत्र १।१।४ की रामानुज कृत व्याख्या

५. गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना-ब्योहार राजेन्द्र सिंह-पृष्ठ ६०-६१
६. ममैवांशो 'जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गीता १५।७
७. य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं

य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः। शतपथ ब्राह्मण १४।६।७।३०
८. रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतिक भक्ति—दर्शन—डॉ० सरनाम सिंह शर्मा-पृष्ठ १८९
९. विशिष्टाद्वैतवाद और उसका हिन्दी भक्ति काव्य पर प्रभाव—पृष्ठ १५६
१०. द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

श्वेता० उप० ५।१

है। यह माया जगत का सृजन, पालन और संहरण करती है। अविद्या माया जीव को बन्धन में डालती है। अपरा प्रकृति का ही दूसरा नाम माया है। प्रकृति अनादि और अनन्त है। यह प्रकृति ही प्रधान, क्षर, या अविद्या माया है। यह विकारों को उत्पन्न करने वाली है। यह प्रकृति ज्ञान का विरोध करने के कारण अविद्या, जड़ होने के कारण अचित्, नित्य होने के कारण नित्या या अक्षरा और विचित्र सृष्टि के माध्यम से जीवों को आकर्षित करने के कारण माया कहलाती है।[1] सूक्ष्म और अव्यक्त प्रकृति ही जब स्थूल और व्यक्त रूप में प्रकट हो जाती है, तब इसे जगत् कहते हैं।[2]

विद्वानों के मत से रामचरित मानस और विनयपत्रिका के निम्नांकित प्रसंगों में विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है :—

१—गोस्वामी तुलसीदास के मत से भक्ति के द्वारा मोक्ष की अनायास उपलब्धि हो जाती है—

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।।
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।।

रामचरित मानस ७।११६।२

२—तुलसीदास जी निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म में कोई भेद नहीं मानते। उनके मत से भक्तों के प्रति प्रेम होने के कारण निर्गुण निराकार ब्रह्म ही सगुण और साकार ब्रह्म हो जाते हैं :—

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें।।

रामचरित मानस १।११६।२,३

एक दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।।

रामचरित मानस १।२३।२

तुलसी के राम निर्गुण और सगुण दोनों हैं—

निर्गुण सगुण विषम समरूपं। ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं।।

रामचरित मानस अरण्यकांड ११।६

३—जीव को ईश्वर का अंश कहना, उसे ब्रह्म न कहना विशिष्टाद्वैतवाद के अनुकूल है—[3]

---

१. तत्वत्रय—अचित् तत्व
२. विशिष्टाद्वैतवाद और उसका हिन्दी भक्ति काव्य पर प्रभाव—पृष्ठ ५५
३. गोस्वामी तुलसीदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ७८

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

रामचरित मानस ७।११७।१

अद्वैतवादी जीव और ब्रह्म का भेद मिथ्या मानते हैं; किन्तु कवि ने जीव और ब्रह्म को भिन्न माना है, और दोनों को सहज संघाती कहा है—

ब्रह्म जीव सम सहज संघाती। मानस १।२०।२

४ जीव तीन प्रकार के होते हैं —

विषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग वेद बखाने ॥

रा० च० मा० २।२७७।२

५—तुलसीदास ने श्रीराम को इस जगत् का कर्ता बतलाया है[1] और उन्हें जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण कहा है।[2] यह मत अद्वैतवाद के प्रतिकूल है, क्योंकि अद्वैतवाद में जगत् की सत्ता नहीं मानी जाती। उसकी अनुभूति केवल भ्रम के कारण होती है—अद्वैतवाद में ऐसा माना जाता है। तुलसीदास जी जगत्-प्रवाह को अचल और अनादि मानते हैं—

विधि प्रपंचु अस अचल अनादी। रा० च० मा० २।२८२।३

६—गोस्वामी जी ने विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार ही माया के दो भेद—विद्या माया और अविद्या माया—बतलाकर सीता जी को विद्या माया का रूप माना है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह, जगदीस माया जानकी।

जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपा निधान की ॥

रामचरित मानस २।१२६।छन्द

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥

रा० च० मा० १।१५२।२

उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म जीव बिच माया जैसे ॥

रा० च० मा० २।१२३।१

और उन्हीं से श्रीराम की कृपा प्राप्त कराने की प्रार्थना की है—

कबहुँक अंब अवसर पाइ।

मेरिओ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ॥ विनय पत्रिका ४१

उपासना के क्षेत्र में पुरुषकार रूपा सीता की कृपा का विशेष महत्त्व है, क्योंकि वे श्री राम को अतिशय प्रिय हैं—

जनक सुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना निधान की ॥

रा० च० मा० १।१८।४

१. जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा। मानस १।१८६।छन्द ३

२. विश्व कारन हरण। विनय पत्रिका ५५

७—लोमश काकभुशुण्डि को 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा' । का अद्वैतवाद दर्शन सुनाते हैं, परन्तु काकभुशुण्डि उसे स्वीकार नहीं करते । वे राम प्रेम के कारण शाप वश काक-शरीर तक को स्वीकार कर लेते हैं । अन्त में लोमश ने काकभुशुण्डि के हृदय में स्थित श्री राम के प्रति अतिशय प्रेम को जानकर उन्हें भगवान् राम की कथा सुनायी —

मन बच क्रम मोहि निज जन जाना । मुनि मति पुनि फेरी भगवाना ।।
रिषि मम महत सीलता देखी । राम चरन बिस्वास बिसेषी ।।

× × ×

मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा । हरषित राम मंत्र तब दीन्हा ।।
बालक रूप राम कर ध्याना । कहेउ मोहि मुनि कृपा निधाना ।।

रा० च० मा० ७।११२।२-४

८—रामचरित मानस का प्रत्येक प्रमुख पात्र मोक्ष के बजाय राम भक्ति की कामना करता है—

भरत—अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान ।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन ।।

रा० च० मा० २।२०४

दशरथ—ताते उमा मोच्छ नहिं पायो । दसरथ भेद भगति मन लायो ।।
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं । तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं ।।

रा० च० मा० ६।११२।३-४

शरभंग—ताते मुनि हरि लीन न भयऊ । प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ ।।

रा० च० मा०।अरण्य।६।१

अगस्त्य—जद्यपि ब्रह्म अखंड अनन्ता । अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता ।।
अस तव रूप बखानउँ जानउँ । फिर फिर सगुन ब्रह्म रति मानउँ ।।

रामचरित मानस।अरण्य १३।६

स्वयं गोस्वामी जी ने भी भक्ति की ही कामना व्यक्त की है—
चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई ।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ।।

विनय पत्रिका १०३।२

६—डॉ० रामकुमार वर्मा के मत से गोस्वामी जी ने विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर के पाँच रूपों—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार का उल्लेख किया है ।[1]

---

1. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० राम कुमार वर्मा—पृष्ठ ४४०-४४८

१—पररूप—ईश्वर का पररूप ईश्वरीय षड्भगों या गुणों से सम्पन्न होता है। गोस्वामी जी के राम निर्गुण निराकार ब्रह्म हैं, जो लीला के लिए अवतार धारण कर कौशल्या की गोद में क्रीड़ा करते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद॥ रा० च० मा० १।१९८

२—व्यूह रूप—ईश्वर का यह रूप विश्व की सृष्टि और उसके प्रलय का कारण होता है। व्यूह रूप के अन्तर्गत भगवान् की उपासना अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सकर्षण और वासुदेव के रूप में की जाती है।[1] रामचरितमानस में भी चतुर्व्यूह का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। यहाँ वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के स्थान पर श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न हैं।[2] तुलसी के राम अंशों के सहित अवतार धारण करते हैं—

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा॥
रा० च० मा० १।१८७।१

३—विभव रूप—भगवान् का विभव रूप ही अवतार धारण करता है। पुराणों में भगवान के २४ अवतार प्रसिद्ध हैं। भगवान् श्री राम का अवतार साधु सन्तों, पृथ्वी, गो और ब्राह्मणों की रक्षा के लिए हुआ था।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा॥
× × ×
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निरभय होहु देव समुदाई॥
रा० च० मा० १।१८७।४

४—अन्तर्यामी रूप—ईश्वर के अन्तर्यामी रूप की स्थिति हृदय में मानी जाती है।[3] गोस्वामी जी ने श्रीराम को अन्तरात्मा में निवास करने वाले सर्वज्ञ ईश्वर के रूप में वर्णित किया है—

सुनहु राम सरबग्य सुजाना। धरम नीति गुन ग्यान निधाना॥
सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहहु उपाउ। रा० च० मा० २।२५७

५—अर्चावतार रूप—मन्त्रों से प्रतिष्ठित प्रतिमाओं में भगवान् के अर्चावतार रूप की परिकल्पना की जाती है। भक्तों की कामनानुसार परमेश्वर अपने को विग्रह

1. वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्।
अनिरुद्ध इति ब्रह्मन्मूर्ति व्यूहोऽभिधीयते॥ भागवत १२।११।२१
2. विशिष्टाद्वैतवाद और उसका हिन्दी काव्य पर प्रभाव—पृष्ठ २७
3. व्योमवच्च। वेदान्त दर्शन १।२।७

रूपों में कल्पित कर लेते हैं। कौशल्या की प्रार्थना पर भगवान एक सामान्य शिशु के रूप में परिवर्तित हो गये —

माता पुनि बोली सो मति डोली, तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसुलीला अति प्रिय सीला, यह सुख परम अनूपा ॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना, होइ बालक सुर भूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा ॥

रामचरित मानस १।१९२।छन्द ४

भगवान् प्रह्लाद के प्रेम वश खम्भ फाड़कर प्रकट हो गये थे। तभी से भक्त लोग प्रतिमा पूजा करने लगे :—

काढ़ि कृपान, कृपा न कहूँ, पितु काल कराल बिलोकि न भागे।
राम कहाँ ? सब ठाउँ हैं, खंभ में ? हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे ॥
बैरि बिदारि भए बिकराल, कहें प्रहलादहि कें अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तब तें सब पाहन पूजन लागे ॥

कवितावली ७।१२८

१०—गोस्वामी तुलसीदास ने विशिष्टाद्वैतवाद में मान्य तीन तत्वों-चित् (जीव), अचित् (जगत्) और ईश्वर का उल्लेख किया है। श्री राम ईश्वर, सीता अचित् और लक्ष्मण चित् (जीव) के प्रतीक हैं :—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
× × ×
जो सहससीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी ॥

रामचरितमानस २।१२६। छन्द

तुलसीदास जी के दार्शनिक विचारों का निरूपण करते समय विनयपत्रिका का निम्नांकित पद विशेष रूप से उद्धृत किया जाता है :—

केशव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र हरि ! समुझि मनहि मन रहिये ॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइअ एहि तनु हेरे ॥
रविकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥

विनयपत्रिका १११

अर्थात् हे केशव[1] (क+ईश+व=केशव=ब्रह्मा+शंकर, इन दोनों के स्वामी) क्या कहूँ ? कुछ कहते नहीं बनता। हे हरे[2] ! आपकी विचित्र रचना देखता हूँ और मन ही मन आपकी लीला समझकर रह जाता हूँ। सृष्टि के सम्बन्ध में कवि कहते हैं कि इस संसार रूपी चित्र को निराकार चित्रकार (परमात्मा) ने शून्य (माया) की दीवार पर बिना रंग (भौतिक उपादानों) के संकल्प[3] से ही बना दिया है। सामान्य चित्र तो धोने से मिट जाते हैं; परन्तु यह संसार रूपी चित्र धोने से नहीं मिटता। सामान्य चित्रों को नष्ट होने का भय नहीं होता, परन्तु इसको (इस संसार रूपी चित्र में अंकित प्राणियों को) मरण का भय बना रहता है। साधारण चित्रों को देखने से सुख मिलता है; परन्तु इस संसार रूपी भयानक चित्र की ओर देखने से दुःख होता है। सूर्य की किरणों में भ्रम से जो जल दिखायी देता है, उस (मृगतृष्णा के) जल में एक भयानक मगर रहता है। उस मगर के मुख नहीं है, तो भी वहाँ जो भी जल पीने जाता है, चाहे वह जड़ हो या जंगम, वह मगर उसे उदरस्थ कर लेता है। आशय यह है कि यह संसार सूर्य की किरणों के जल के समान केवल भ्रम के कारण प्रतीत होता है। जिस प्रकार सूर्य की किरणों (रेगिस्तान में सूर्य की किरणों से चमकती बालू) में जल समझकर उसके पीछे दौड़ने वाला मृग जल न पाकर प्यास से ही मर जाता है; उसी प्रकार इस भ्रमात्मक संसार में सुख समझकर उसके पीछे दौड़ने वाले प्राणियों को भी निराकार काल खा जाता है। सांख्य दर्शन और योग दर्शन के अनुयायी आचार्य इस संसार को सत्य कहते हैं।[4] विज्ञानवादी बौद्धों (योगाचार और

---

१. (क) क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्।
आवां तवांगसम्भूतौ तस्मात्केशव नामवान्॥ हरिवंश पुराण ३।८८।४८

(ख) केश+व=सुन्दर केशों वाले।

२. हरति पापानि इति हरिः।

३. कामस्तदग्रे समवर्तताधि। ऋग्वेद १०।१२९।४
सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत।
स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच। तैत्तिरीय उप० २।६

४. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ सांख्यकारिका ९
अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम्। सांख्यदर्शन १।८०
कारण भावाच्च। सांख्य दर्शन। १।११६
प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। योगदर्शन २।१८
तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा। योग दर्शन २।२१

माध्यमिक सम्प्रदाय) के मत से यह संसार असत्य है।[1] द्वैताद्वैतवादी न्याय और वैशेषिक दर्शनों के अनुयायी इसे सत्यासत्य का मिश्रित रूप मानते हैं।[2] तुलसीदास जी के मत से ये तीनों सिद्धान्त आंशिक सत्य का प्रतिपादन करने के कारण त्याज्य हैं। जीव का 'मैं अरु मोर तोर तैं माया' वाला संसार तो मिथ्या है, परन्तु 'सीयराम मय' जगत् असत्य नहीं है।[4] संसार का दृष्टिगोचर होने वाला रूप तो असत्य है, किन्तु अपने उपादान कारण—भगवान् श्रीराम के रूप में वह सत्य है। जो व्यक्ति इस तथ्य को नहीं समझता, वह जीवन भर विवाद करता रहता है। इसीलिए गोस्वामी जी का मत है कि हमें साध्य या लक्ष्य की प्राप्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, साधन के स्वरूप पर नहीं। जब मायापति श्रीराम अपनी माया की प्रबलता को खींच लेते हैं, तब जीव में भक्ति का उदय हो जाता है। जीव का धर्म है कि वह ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयास करे। लक्ष्य प्राप्ति के इस प्रयास में संसार के सत्य या असत्य होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा है कि जगत् के सत्यासत्य के विवाद (जिसे सुलझाने में आचार्य शंकर और रामानुज जैसे मनीषी यावज्जीवन व्यस्त रहे,) में न पड़कर हमें ईश्वराराधन[5] करना चाहिए, तभी

---

१. विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनात्।
यद्वत् तैमिरिक स्यात्केशोण्डुकादिदर्शनम्। आचार्य वसुबन्धु—विंशिका १।१

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचार मते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं न सकलं वैभाषिको भाषते।।
भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ १६७ पर उद्धृत

२. सांख्यपातंजलमतानुसारी सर्वं समग्रं जगद् ध्रुवं जन्मनिधनरहितं सदैव गदति। सुगतमतानुवर्ती सकलमिदमध्रुवं क्षणिकमिति गदति। तार्किकः गमस्तेऽप्येतस्मिञ्जगति ध्रौव्याध्रौव्ये नित्यत्वानित्यत्वे भिन्नधर्मवर्त्तिनी गदति।
महिम्नस्तोत्र ९ की मधुसूदन कृत व्याख्या

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-विनयपीयूष-पृष्ठ ११४०

४. बिस्वरूप रघुबसमनि, करहु बचन बिस्वास। रामचरितमानस ६।१४
सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।
रामचरितमानस १।८।१

५. बहुमत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लगत राजडगरो सो।। विनयपत्रिका १७३

हमारा कल्याण होगा। प्रभु की कृपा होने पर ही माया से भ्रमित जीव का कल्याण होता है।[1]

गोस्वामी जी के रामचरितमानस और विनय पत्रिका में व्यक्त दार्शनिक विचारों के आधार पर विद्वानों ने उनके दार्शनिक मत को निश्चित् करने का प्रयास किया है। महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी और डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र के मत से गोस्वामी जी अद्वैतवादी थे।[2] डॉ० श्यामसुन्दर दास और डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के मत से गोस्वामी जी का दर्शन अद्वैत से मिलता है और अनेक बातों में भेद भी रखता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत से परमार्थ दृष्टि से, शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से तो अद्वैतमत गोस्वामी जी को मान्य है, पर भक्ति के व्यवहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते है।[3] डॉ० किरणकुमारी गुप्त का मत है कि गोस्वामी जी समन्वयवादी थे। उन्हें केवल विशिष्टाद्वैतवादी कहना अतिशयोक्ति पूर्ण है।[4] डॉ० रामकुमार वर्मा का मत है कि तुलसीदास अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में विशिष्टाद्वैतवादी थे।[5] डॉ० ग्रियर्सन का मत है कि गोस्वामी तुलसीदास जी का झुकाव अद्वैतवाद की ओर अत्यधिक है; परन्तु हैं वे विशिष्टाद्वैतवादी ही और गोस्वामी जी ने इस मत का आभास,

सियाराम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

से दिया है।[6] पं० केशव प्रसाद मिश्र का मत है कि यों तो गोस्वामी जी की समन्वय-बुद्धि सभी दार्शनिक सिद्धान्तों में अविरोध देखती है, सभी को यथास्थान महत्व देती है और सभी पक्षों का समर्थन करती है; पर उनके प्रस्थान के अनुरोध तथा ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार के विचार से द्वैतसिद्धान्त और भक्ति पक्ष ही में उनका पर्यवसान प्रतीत होता है।[7] डॉ० राजपति दीक्षित का मत है कि गोस्वामी जी द्वैतवादी थे।[8] उनके अनुसार गोस्वामी जी जगत्

---

१. नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥
रा० च० मा०।किष्किन्धाकांड ३।१
२. ज्ञान अनुचिन्तन—म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी—पृष्ठ ८३
तुलसी—दर्शन—डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र—पृष्ठ २०७
३. गोस्वामी तुलसीदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ४२
४. विशिष्टाद्वैतवाद और उसका हिन्दी भक्ति काव्य पर प्रभाव—
डॉ० किरण कुमारी गुप्त—पृष्ठ १६६
५. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृष्ठ ४४५
६. तुलसीदास—जीवनी और विचार धारा—डॉ० राजाराम रस्तोगी—पृ० ३६७
७. तुलसी ग्रंथावली—तृतीय भाग (मूल्यांकन)—पृष्ठ ३७
८. तुलसीदास और उनका युग—डॉ० राजपति दीक्षित—पृष्ठ २६६-३०२

को राममय अर्थात् रामरूप मानते हैं; जबकि विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार जगत् ईश्वर का अंश है। अतः तुलसीदास जी को विशिष्टाद्वैतवादी नहीं माना जा सकता। दीक्षित जी के मत से तुलसीदास जी के दार्शनिक विचार अद्वैतवाद के सिद्धान्तों से भी भिन्न हैं।[१]

डॉ० उदयभानु सिंह के मत से गोस्वामी जी समन्वयवादी हैं, वे किसी दार्शनिक सम्प्रदाय के कठघरे में बन्द नहीं किये जा सकते।[२] डॉ० रामदत्त भारद्वाज के मत से गोस्वामी जी स्मार्त वैष्णव थे और वे किसी आचार्य विशेष के अनुयायी नहीं थे। जहां तक आधिभौतिक विचार धारा का सम्बन्ध है, वे शङ्कर और बल्लभ के मध्य में स्थित हैं।[३] फादर कामिल बुल्के के मत से तुलसीदास दार्शनिक विवादों में नहीं पड़ना चाहते थे। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उनका झुकाव विशिष्टाद्वैतवाद की ओर था।[४]

मेरे मत मे रामचरित मानस 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' राम कथा को प्रस्तुत करता है, इसलिए उसमें विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के दर्शन होते हैं; किन्तु विनयपत्रिका में उनके निजी दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका में कहीं भी जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन नहीं किया है। इसके प्रतिकूल उन्होंने जीव और ब्रह्म में भेद मानकर अपने को सेवक, पुत्र और जीव कहा है; तथा श्री राम को स्वामी, पिता और ब्रह्म कहा है—

ब्रह्म तू हौं जीव, तू है ठाकुर हौं चेरो।
तात मात गुरु सखा तू सब बिधि हितु मेरो।। विनय पत्रिका ७६

अद्वैतवाद के अनुसार जीव को आत्मज्ञान हो जाता है; तब वह माया के बन्धन से मुक्त हो जाता है। किन्तु गोस्वामी जी का मत है कि जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती; तब तक जीव दुःखों से छुटकारा नहीं पाता है—

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु ! दासहित ! मोह न छूटै माया।। विनय पत्रिका १२३

रामचरितमानस में गोस्वामी जी ने जीव और ईश्वर में भेद बतलाते हुए कहा है कि जीव माया के अधीन है, जबकि ईश्वर माया के स्वामी हैं।

---

१. तुलसीदास और उनका युग—डॉ० राजपति दीक्षित—पृष्ठ ३०१-३०२
२. तुलसी-काव्य-मीमांसा—डॉ० उदयभानु सिंह—पृष्ठ३३०
३. गोस्वामी तुलसीदास—व्यक्तित्व : दर्शन : साहित्य—डॉ० रामदत्त भारद्वाज पृष्ठ ३७२
४. राम कथा और तुलसीदास—फादर कामिल बुल्के—पृष्ठ ६३

जीव परवश है, किन्तु ईश्वर स्वतन्त्र है। जीव अनेक होते हैं, किन्तु ईश्वर एक है।[1]

इसके साथ ही गोस्वामी जी ने रामचरितमानस के कुछ प्रसंगों (७।१११।३, २।१२७।२, ७।११८।१) में जीव-ब्रह्म की एकता का भी प्रतिपादन किया है। रामचरितमानस (७।१११।३) के 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा।।' को पूर्वपक्ष का प्रतिपादक कथन मानने पर भी शेष उद्धृत वचन जीव-ब्रह्म की एकता के सूचक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गोस्वामी जी ने कुछ स्थलों पर जीव-ब्रह्म की एकता का उल्लेख कर अद्वैतवाद[2] का समर्थन किया है और कुछ प्रसंगों में उन्होंने जीव और ईश्वर तथा जीव और ब्रह्म में भेद बतलाते हुए उन दोनों को सहज संघाती कहकर विशिष्टाद्वैत[3] के अनुकूल विचार व्यक्त किए हैं।

गोस्वामी जी अद्वैतवादियों की भांति ईश्वर के अवतार को माया जनित नहीं मानते हैं। उनके राम निर्गुण और सगुण दोनों हैं।[4] उनके मत में निर्गुण और निराकार ब्रह्म ही भक्तों के स्नेह-वश सगुण और साकार हो जाते हैं।[5] वे ज्ञानियों के द्वारा काम्य मोक्ष की नहीं, अपितु भक्ति की कामना करते हैं।[6] उनके विचार से भक्ति का आधार ग्रहण करके ही जीव संसार से पार हो सकता

---

१. माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी।।
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।।
रामचरितमानस ७।७८।३

२. सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा।।
रा० च० मा० ७।१११।३
जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई। रामचरित मानस २।१२७।२
सोऽहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। रामचरित मानस ७।११८।१

३. ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।
रा० च० मा० ७।११७।२
ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू। रामचरित मानस २।२१७।२
ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती। रामचरित मानस १।२०।२

४. जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान।। रा० च० मा० १।११८

५. अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।
रा० च० मा० १।११६।२

६. चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग रामपद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।। विनय पत्रिका १०३।२

है।[1] सारांश यह है कि गोस्वामी जी ने ईश्वर का वर्णन विशिष्टाद्वैतवाद के अनुकूल किया है।

जगत् के सम्बन्ध में उन्होंने दो प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। वे जगत् को राममय तथा राम का[3] रूप बतलाते हुए श्री राम को जगत् में उसी प्रकार व्याप्त मानते हैं; जिस प्रकार पट में सूत और मिट्टी के पात्रों में मिट्टी अनुस्यूत होती है।[4] वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) में ईश्वर को जगत् का उपादान और निमित्त कारण माना गया है;[5] तथा जगत् को ईश्वर का परिणाम बतलाया गया है।[6] इस प्रसंग में गोस्वामी जी परिणामवादी प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे जगत् को राम का लीला-विलास अर्थात् लीला का विस्तार मानते हैं।[7] इसके साथ ही गोस्वामी जी जगत् को आकाश-पुष्प और मृग-तृष्णा की भांति मिथ्या मानते हैं।[8] इन परस्पर विरोधी

१. सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त विचारि॥ रा० च० मा० ७।११६
२. सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
रा० च० मा० १।८।१
३. बिस्वरूप रघुबंस मनि, करहु बचन बिस्वास। रामचरित मानस ६।१४
निज प्रभु मय देखहिं जगत् केहि सन करहिं बिरोध। रा० च० मा० ७।११२
४. आदि मध्यांत भगवंत त्वं सर्वगतमीस पस्यंति ये ब्रह्मवादी।
यथा पट तंतु घटमृत्तिका सर्प स्रग दारु करि कनक कटकांगदादी॥
विनय पत्रिका ५४।८
५. जन्माद्यस्य यतः वेदान्त दर्शन १।१।२
शास्त्र योनित्वात्। वेदान्त दर्शन १।१।३
तत्तु समन्वयात्। वेदान्त दर्शन १।१।४
६. परिणामात्। वेदान्त दर्शन १।४।२७
७. तुलसिदास कह चिद्‌बिलास जग बूझत बूझत बूझै। विनय पत्रिका १२४।५
८. जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी। विनय० १२०।१
जग नभ बाटिका रही है फल फूलि रे। विनयपत्रिका ६६
जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥
रा० च० मा० १।११२।१,२
रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि॥ रा० च० मा० १।११७
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
रामचरित मानस १।११८।१

प्रतीत होने वाले वाक्यों की संगति इस प्रकार से हो जाती है कि गोस्वामी जी के मत से जगत् प्रवाह-रूप में अचल और अनादि[1] तथा श्रीराम का परिणत रूप होने के कारण अपने कारण रूप में सत्य और प्रणम्य है; किन्तु पल-पल में परिवर्तनशील होने तथा जीव के दुःख का निमित्त होने के कारण जगत् का दृश्य रूप असत्य और उपेक्षणीय है।[2] इस प्रकार श्रीराम से भिन्न प्रतीत होने वाला जगत् का नाना रूपात्मक कार्यरूप ही मिथ्या है।[3]

गोस्वामी जी ने माया के दो भेद माने हैं; १. विद्या माया २. अविद्या माया। अविद्या माया जीव को दुःख देती है। विचार करने पर अविद्या माया मिथ्या सिद्ध हो जाती है।[4] विद्या माया प्रभु की इच्छा से जगत् के सर्जन पालन और संहार का कार्य करती है। सीता विद्या माया है।[5] यह विचारधारा विशिष्टाद्वैतवाद का समर्थन करती है।

मोक्ष को भक्ति के द्वारा अनइच्छित[6] कहना और ज्ञान को भक्ति की तुलना में हीन[7] बतलाना विशिष्टाद्वैतवाद के अनुकूल और अद्वैतवाद के प्रतिकूल है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि भक्त होने के कारण गोस्वामी जी का विशिष्टाद्वैतवाद की ओर विशेष झुकाव था; किन्तु उनके काव्यों में विशिष्टाद्वैतवाद के साथ ही अद्वैतवाद के सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है। अतएव हम कह सकते हैं कि गोस्वामी जी न तो पूर्ण रूप से विशिष्टाद्वैतवादी थे और न पूर्ण रूप से अद्वैतवादी ही। अन्य क्षेत्रों की भाँति उन्होंने दर्शन के क्षेत्र में भी समन्वय स्थापित किया है।

———

१. बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी। रामचरित मानस २।२८२।३
२. श्रुति गुरु साधु समृति संमत यह दृश्य असत दुखकारी। विनय० १२०।४
३. तुलसी-काव्य-मीमांसा - डॉ० उदयभानु सिंह—पृष्ठ ३२७
४. सो दासी रघुबीर कै, समुझें मिथ्या सोपि। रा० च० मा० ७।७१
५. श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
रामचरित मानस २।१२६।छन्द
६. अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
रामचरित मानस ७।११९।२
७. जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
रामचरित मानस ७।११५।१